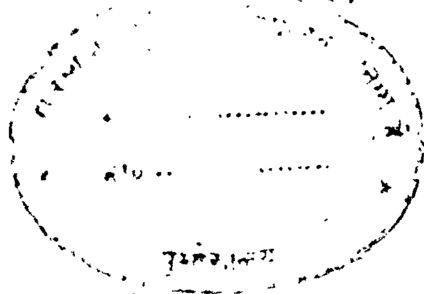
हृदय-ध्वनि

(साहित्यिक लेखों का संग्रह)



लेखक

सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

संस्कृत-हिंदी पुस्तक विक्रेता

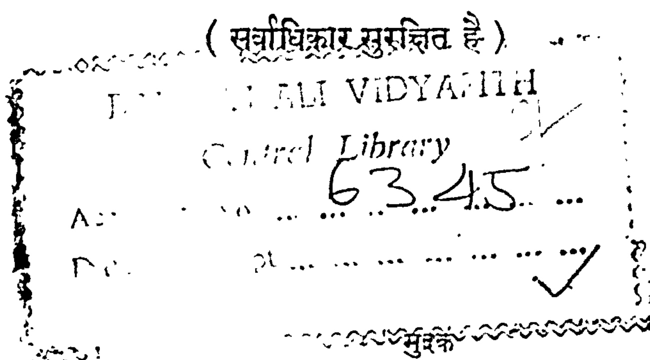
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

प्रथम संस्करण] १९४१ [मूल्य १।)

College Section

प्रकाशक

सुन्दर लाल जैन
मैनेजिंग प्रोप्राइटर
मोतीलाल बनारसीदास
सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर ।



मुद्रक
शान्तिलाल जैन
बम्बई संस्कृत प्रेस,
शाही मुहल्ला, लाहौर ।

विषय-सूची

———

हैं[१]। अंग्रेज़ी भाषा के सब से प्रसिद्ध कोष* में दोनों धाराओं का एकीकरण मिलता है। तदनुसार 'पहले किसी भी विषय अथवा उसके अंगविशेष पर लिखा हुआ औसत दर्जे की लंबाई वाला 'असंबद्ध तथा बिना अपनाए हुए विचारों से पूर्ण' (जान्सन) निबंध को प्रबंध की संज्ञा दी जाती थी परंतु अब उसमें सँवारने का भाव कुछ अधिक आ गया है, यद्यपि उसकी विचारपरिधि अधिकांश में सीमित ही है।[२]"

वास्तव में ये दोनों परिभाषायें संकुचित हैं और हम प्रबंध कहे जाने वाले सब साहित्यक निबंधों को इसके अंतर्गत नहीं

---

१. 'A loose sally of mind, an irregular, indigested piece not a regular and orderly performance'.

—Dr. Johnson.

* O. E. D. × The Treatise of Human Nature.

२. "A composition of immoderate length on any particular subject, or branch of a subject, originally implying want of finish, 'An irregular indigested piece (j), but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range."

रख सकते। यदि हम निबंध में अपूर्णता और संक्षिप्तता को ढूँढ़ते हैं तो गवेषणापूर्ण बड़े निबंध में व्यवस्था और विस्तार की ही कल्पना करेंगे। लेकिन 'ह्यूम' का लेख* छोटा है परंतु व्यवस्था का उदाहरण है और 'लाक' का लेख †बड़ा है परंतु उतना स्पष्ट नहीं।

यह भी न भूलना चाहिये कि प्रबंध केवल गद्य के ही क्षेत्र की वस्तु नहीं है। उसका श्रीगणेश पद्य से ही आरंभ हुआ है। १८ और १९ वीं शताब्दी में भी इंगलैंड में प्रबंध छंदबद्ध होते थे। अंग्रेजी भाषा में गद्य प्रबंध साहित्य के जन्मदाता वास्तव में बेकन को समझना चाहिये। परंतु उसके पूर्व ही वहाँ के विद्वान मूर्ख राजा जेम्सक लेख लिख चुके थे।

अंग्रेज़ी में गीत[1], महाकाव्य[2] और विषादांत अभिनय[3] का अपना एक विशेष अर्थ है; परंतु 'एसे' की रूपरेखा और विस्तार बिल्कुल अनिश्चित है। अंग्रेज़ी शब्द 'एसे' का शाब्दिक अर्थ है—आरंभिक प्रयास[4]। अतएव निबंध शब्द की अव्यवस्था और अपूर्णता की संगति भी उसके साथ बैठ जाती है। 'एसे' शब्द का

---

* "Essay on criticism" 'Essay on man.'

† 'Essays of a practice in the divine Art of Poesie'.

१, Lyric   २. Epic.   ३. Tragedy.

४. Something tentative.

सीमा विस्तार इतना ढीला है कि ऐसी वैसी सब साहित्यिक रचनायें जिन्हें और कहीं स्थान नहीं मिलता 'एसे' के नाम से पुकारी जाती हैं। एक ओर 'लाक' की प्रसिद्ध रचना[१] और दूसरी ओर लैम्ब की विचारधारा[२] यदि समानरूप से निबंध कही जा सकती हैं तो 'एसे' की परिभापा की व्यापकता आप ही आप लुप्त हो जाती है।

सच पूछिये तो आकाश के नक्षत्र और पृथ्वी के चमकीले रज-कण, जीवन के सूक्ष्मतम पक्ष और सृष्टि के स्थूल आश्चर्य पूर्ण परिस्थितियाँ, इहलोक और इतरलोक, प्रत्यक्ष और परोक्ष कोई ऐसा विषय नहीं रह जाता जिसे हम प्रबंध में बाँध न सकें। न हम लेखन प्रणाली और अभिव्यंजन शैली के ही बल पर प्रबंध को एक निश्चित सीमा के भीतर ला सकते हैं। किसी प्रबंध की रोचकता बढ़ाकर कही गई बात के कारण भी हो सकती है और कहीं-कहीं अत्युक्ति का आश्रय लिए बिना ही एक सुंदर प्रबंध लिखा जा सकता है। कुछ प्रबंधों की शैली में सजग उपेक्षा के बीच में तन्मयता की तीव्रता और भाव पूर्ण उद्गारों की मार्मिकता भी पाई जाती है जो अंतस्तल की गहरी वृत्तियों के मूल से जन्म लेती है। इन्हीं सब कारणों से अंग्रेज़ी में निबंध की परिभाषा रचना असंभव प्रमाणित हुई। प्रसिद्ध कोषकार और साहित्यिक

---

१. An essay concerning Human Nature.

२. Lamb's Essays.

अधिनायक आचार्य जान्सन की असफलता इसका ज्वलंत प्रमाण है।

व्यावहारिक रूप में अंग्रेज़ी में प्रबंध को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। एक शुद्ध प्रबंध[1] और दूसरे वे जिन्हें पूर्व परिचित परिपाटी के अनुसार यह नाम दिया गया है और जो केवल अपूर्णता और लघु-रूपता के नाते ही प्रबंध कहे जाते हैं। इस लघुरूपता तथा अपूर्णता का कारण कदाचित् यही हो सकता है कि विषय को केवल संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है अथवा किसी बड़े विषय के अंग-विशेष को ही प्रबंध की परिधि में लाया जाता है; यह विषय मनुष्य के अनुभव का कोई भी अंग हो सकता है। यह पूर्ण वैज्ञानिक अथवा पूर्ण दार्शनिक रूप में लिखा जा सकता है—कभी ऐतिहासिक, कभी आलोचक का बाना पहन कर भी वह आ सकता है। परंतु यह प्रबंध शुद्ध प्रबंध के साहित्यिक रूप से इतर है। ऐतिहासिक प्रबंध की जोड़ गाँठ को अपूर्ण इतिहास की संज्ञा दी जा सकती है। एक दार्शनिक विचार पूर्ण निबंध का परिवर्धन उसे गवेषणा पूर्ण बड़े निबंध[2] का रूप दे सकता है। लेकिन इन प्रबंध कहे जाने वाले निबंधों के अतिरिक्त जो शुद्ध साहित्यिक प्रबंध हैं वे हमें अंग्रेज़ी में सब से अच्छे

---

१ Essays par Excellence.

२. Treatise

रूप में 'लैम्ब' में और 'मानटेन' में मिलेंगे । इन प्रबंधों को हम कहीं से भी नहीं बढ़ा सकते । वह अपने में पूर्ण हैं । 'मानटेन' के 'एसे' निज के विचारों को एक कलात्मक सूत्र में पिरो देने का प्रयास करते हैं । शैली आकर्षक और भावमय है । किसी विशेष विषय का शीर्षक रख कर उसके अंतर्गत जीव जगत् के अनेक पहलुओं का स्पर्श करते हुए 'मानटेन' के 'एसे' स्वतंत्र अनुभवों की मनोरम तालिका के रूप में प्रकट हुये । उसके 'एसे' विषय के प्रधान सूत्र को ही पकड़कर चलते हैं और आत्यंतिक रूप से उसका त्याग कभी नहीं करते । निबंध के समाप्त होने पर हम उसकी अंतर्निहित एकता का अनुभव करते हैं । उसके निबंधों में आत्मीयता का भाव झलकता है । सहानुभूति और आत्मीयता के वातावरण के साथ-साथ व्यक्तिगत और स्वानुभूत विचारों की नैसर्गिकता उनमें रहती है । एलेक्ज़ेण्डर स्मिथ ने अपने निबंध में बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया है । उसका यह लेख स्वयं प्रबंध लेखन-कला पर लिखे गए सर्वोत्तम प्रबंधों में से है । वह लिखता है—

"किसी केंद्रीय मनोदशा के द्वारा स्वरूप निश्चित किए जाने के कारण प्रबंध सबसे अधिक गीत काव्य के पास है । वह मनोदशा चाहे केवल सनक के रूप ही में हो अथवा गंभीर व्यंग्य के रूप में हो । मनोदशा विशेष होनी चाहिए और उसी के आस-पास प्रबंध उसी प्रकार बढ़ता है जैसे कौशेय-जंतु के चारों ओर कौशेय-तंतु ।"

आगे चलकर वह लिखता है। "साधारणतया प्रबंधलेखक किसी देश के साहित्य के इतिहास के आरंभ में नहीं पाए जाते। स्वभावतः वह कवि और इतिहासकार के पीछे अवतीर्ण होता है। उसका मस्तिष्क स्वभाव से ही मंथर-गति-शील होता है। वह भावावेग के कारण लिखने में प्रवृत्त नहीं होता । न वह किसी नई सृष्टि का विधायक ही होता है। वह तो प्रस्तुत सामग्री पर अपनी टीका जड़ देता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि ग्रंथ लिखे जा चुके हों और कुछ अंशों में वह पढ़े भी जा चुके हों और कुछ लोगों ने उन्हें अपने-अपने अनुभव का अंग भी बना लिया हो। साधारणतया उसके लेखों में सीधे तौर पर या संकेत रूप में पूर्ववर्णित विषयों के उल्लेख होते हैं और इस कारण उनको हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक में उनके समझने की क्षमता भी हो।'[1]

---

१. "The Essay, as a literary form resembles lyric, in so for as it is moulded by some central mood whimisical, serious or satirical. Give the mood and the essay, from the first sentence to the last grows around it as the cocoon grows around the silkwarm." "The Essayist.", he further says, "does not usually appear early in the literary history of a country; he comes

अंग्रेज़ी भाषा के साहित्य (१५६१—१६२६) में वेकन ने सर्व-प्रथम 'प्रबंध-लेखन' का आरंभ किया था। इसके विचारों में अंग्रेज़ी भाषा का 'एसे' शब्द बाद की उपज है तथापि बीजरूप में यह भाषा के इतिहास के आरंभ की वस्तु भी कही जा सकती है। वह प्रबंधों को विचार संग्रह के रूप में देखता था। उन्हें वह विचार-प्रकाशन की कसौटी भी समझता था। जिस प्रकार एक कलाकार किसी बड़े काम को हाथ में लेने से पहले छोटे कामों में अपना हाथ माँजता है इसी प्रकार महाकाव्य या अन्य कोई गवेषणापूर्ण ग्रंथ लिखने से पहले विचारों की परीक्षा करने के लिए 'एसे' उपयुक्त समझा जाता था। वेकन के प्रबंधों में बाह्यरूप अथवा शैली का अधिक ध्यान नहीं रखा गया है; परंतु उसका एक एक शब्द अर्थ-

---

naturally after the poet and the chronicler. His habit of mind is liesurly; he does not write from any special stress of passionate impulse. He does not create material already existing. It is essential for him that books should have been written and that they should, at least, to some extent, have been read and digested. He is full of allusions and references and these his readers must be able to understand and follow."

गांभीर्य का उदाहरण है और यदि गागर में सागर भरना किसी उच्च शैली की कसौटी है तो वेकन से बढ़कर दूसरा लेखक अंग्रेज़ी में ढूँढ़ना कठिन है।

वास्तव में इस साहित्य के रूप को वेकन ने फ्रेंच के अमर कलाकार 'मानटेन' से उधार लिया था। परंतु 'मानटेन' के प्रबंधों में उसके व्यक्तित्व की छाप है। उसके विचार अपने विचार हैं; वेकन ने अपने लेखों से अपनापन यथाशक्ति निकालकर उन्हें ज्ञान की गठरियों के रूप में अपने से अलग कर रखा है। उसके बाद के प्रबंध लेखक—ओवरवरी [१५८१-१६१३] और अर्ल [१६०२-१६६५] ने इसे और भी अधिक लेखक से अलग की वस्तु बना दिया। नाटककार के पृथकत्व की भावना इनके विशेष प्रकार के निबंधों की विशेपता है। ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने विश्व के रंगमंच पर लाये हुये चरित्रों की समीक्षा अपने प्रबंधों में की है।

यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि सर टामस ब्राउनी [१६०५-१६८२] के समय में प्रबंध शब्दों के संगीत पर ही निर्भर रहने लगे। उसके लेखों में मस्तिष्क की दौड़ भी है पर भाषा के संगीत का ध्यान उससे बहुत अधिक है। यह सब लेखक दुनियादारी से अलग होकर साहित्य के उद्यान के एक कोने में बैठकर ख्याली घोड़े दौड़ाने में बहुत कुशल थे।

लेकिन कौले (Cowlay) [१६१८-१६६८] के आने के साथ ही एक नये युग का प्रारंभ होता है। आत्मीयता का भाव इसके प्रबंधों की विशेषता है । मानटेन के प्रबंधों की आत्मा के साथ साक्षात्कार का प्रयत्न कौले के ही हिस्से में पड़ा। इसने अपने लेखों में गद्य और पद्य दोनों को ही मिलाकर लिखा है। इसके बाद हम ड्राइडन के पास पहुँचते हैं। इसकी शैली स्पष्ट, ज़ोरदार और सीधे हृदय पर प्रभाव डालने वाली होती थी। यद्यपि ड्राइडन नाटककार और आलोचक के रूप में विशेष प्रसिद्ध है परंतु उसकी सर्वोत्तम रचनाओं के नमूने उसके लेखों और प्राक्कथनों में ही पाये जाते हैं।

एडीसन (१६७२-१७१६) ने प्रबंध के रूप और रंग में काया पलट कर दी। उन्होंने साधारण रूप में व्यवहृत होनेवाली सीधी-सादी भाषा में नागरिकता की रक्षा करते हुए बड़े-बड़े गम्भीर विषयों पर अपनी लेखनी का ज़ोर अज़माया है। बहुत से ऐसे विषय जो सांसारिक लोगों के सुनने में भी न आते थे, दैनिक संभाषण की सामग्री का रूप ले रहे थे।

आचार्य जान्सन (१७०६-१७८४), गोल्डस्मिथ (१७२८-१७३७) और ह्यूम (१७११-१७६०) भी उसी शताब्दी में पैदा हुए। जान्सन एक भारी भरकम दीर्घकाय व्यक्ति था। उसकी शैली और भाषा उसके स्वरूप के अनुकूल थी। उसने अपनी गंभीर शैली में भारी भारी विषयों पर निबंध लिखे हैं। गोल्डस्मिथ उतना ही विनोदप्रिय

था। विनोद-प्रियता उसके स्वभाव का अंग थी। उसे संसार के उतार चढ़ाव का व्यावहारिक ज्ञान था। दूसरे उसमें दुराव कुछ भी न था। इन्हीं सब कारणों से वह सर्वप्रिय बन सका। ह्यूम ने प्रबंध में गाढ़ेपन और दार्शनिकता का समावेश किया। उसने अनेक विचार-पूर्ण प्रबंध लिखे हैं।

धीरे-धीरे प्रबंध साहित्य ने भाषा के साहित्य में अपना निश्चित स्थान बना लिया। अब लोग आत्मप्रकाशन के लिए गीतों के स्थान में इन्हीं का प्रयोग करने लगे। मासिकपत्रों और आलोचना साहित्य का आरंभ होजाने के कारण प्रबंध में एक नई दिशा की सृष्टि हुई। दि एडिनबरा रिव्यू, दि क्वार्टरली रिव्यू, दि ब्लैकाउड नामक पत्रों के साथ जेफ्री, सिडनीस्मिथ, और क्रिस्टफरनार्थ के नाम जुड़े हुए हैं। लेहण्ट, और डिकेंसी भी इसी युग की देन हैं। प्रसिद्ध नाविक योद्धा नेलसन की जीवनी के ख्यातनामा लेखक 'सदे' की क्वार्ट-रली रिव्यू में अपनी रचनायें प्रकाशित करवाता था।

इसी प्रकार मैकाले का १८२५ ई० में मिल्टन पर लिखा हुआ लेख प्रबंध साहित्य के इतिहास में एक नये परिच्छेद का आरम्भ करता है। वह तड़क भड़क पसंद आदमी था। उसकी भाषा बड़ी ऊँची पैंगे मारती हुई आगे बढ़ती है। उसके लेखों को हम छोटी जीवनी या किसी स्थल अथवा दृश्य विशेष का चित्रमय वर्णन कह

सकते हैं। संपूर्ण मानवता के न्यायाधीश के आसन से उसे हम गंभीर निर्घोष करते हुए सुनते हैं।

कार्लाइल ने भी मैकाले की भाँति मासिक पत्रों के लेखक के रूप में अपना साहित्यिक जीवन प्रारंभ किया था। वह कल्पनाप्रधान व्यक्ति था। सदैव सातवें आसमान की उड़ान भरना उसका स्वभाव बन गया था। रस्किन ने उसके विषय में कहा है—

"कार्लाइल के लिए इसके अतिरिक्त कहा ही क्या जा सकता है कि वह मेघमाला के मध्य वज्राघात से स्वयं मुरझाते हुए संसार में अमरता का संदेश दे जाता है।" स्फूर्ति और सच्चाई की इसकी रचनाओं में कमी नहीं है और पूर्णता इसके प्रबंधों की विशेषता है।

इसी युग में बहुत से ऐसे भी साहित्यिक हुये जो प्रबंधलेखक तो न थे परंतु गौण रूप से उन्होंने प्रबंध-साहित्य के परिवर्तन में योग दिया। उन्होंने इस कथन की सत्यता को प्रमाणित किया है कि कवि अच्छे गद्यलेखक भी हो सकते हैं। इनमें कालेरिज, वर्ड्स बर्थ, सदे, शैली, लैण्डर और स्काट के नाम मुख्य हैं। इनमें प्रथम नाम विशेष महत्व रखता है। उसने अनेक भावपूर्ण आलोचनात्मक प्रबंध खंडों की रचना करके आलोचना के क्षेत्र में क्रांति की लहर उत्पन्न कर दी।

इन सब रचनाओं में मस्तिष्क की भूख मिटाने की सामग्री तो थी, कवियों द्वारा निश्चित खंड काव्यों में काव्य के रसास्वादन

का अनुभव भी होता था और आलोचनात्मक प्रबंधों के अनुशीलन से जनता की रुचि परिष्कृत हो चुकी थी। परंतु इनमें एक बात की कमी थी। कौले की आत्मीयता धीरे-धीरे प्रबंधों से घुल चुकी थी। लैम्ब आकर प्रबंध को एक प्रकार से उचित दिशा में लेगया। उसने अपनेपन को अपने प्रबंधों में घोलकर एक ऐसे रस की सृष्टि की जिसके स्वाद ने सब को मस्त कर दिया। वह यह भली भाँति जानता था कि पाठकों को अपनी ही बातों से कैसे मोह सकता है। जो कुछ भी उसके अनुभव में आता था, जो कुछ भी वह सोचता था और जितनी भी वस्तुयें उसके सामने पड़ती थीं, उन्हीं सब को वह कागज़ पर ले आता था। उसकी शैली में कहीं पर भी बिरानेपन की गंध नहीं और न उसमें कोई ऐसी ही बात है, जिससे पता चले कि वह पाठकों से बहुत दूर है। वह पाठकों से ऐसे घुल मिल कर बातें करता है, मानों उनसे छिपाने योग्य उसके पास कुछ है ही नहीं। उसके व्यापक अध्ययन और मानव स्वभाव के पूर्ण परिचय ने उसके प्रबंधों को जीवन-गाथाओं का रूप दे दिया है। उनमें जीवन की सी ही सादगी है। इसी से तो उसे प्रबंधलेखकों का शिरोमणि कहा जाता है।

हैज़लिट भी एक बड़ा मौलिक लेखक था। रस्किन की भाँति वह एक कलाकार भी था। साहित्य के विषयों पर उसके अपने विचार हैं। आलोचक के रूप में उसकी अपनी एक शैली है। लेकिन

इन सब बातों के अतिरिक्त उसमें एक और आकर्पण था। उसके प्रबंधों में एक विशेपता थी जिसे हम और कहीं नहीं पा सकते और वह थी उसकी लेखन शैली। वह उन कुछ इने गिने लोगों में से है जो जैसा सोचते हैं वैसा ही निर्भयता से लिख भी सकते हैं। इसके एक प्रबंध के विपय में स्टीवेन्सन ने कहा था कि उन सब व्यक्तियों को जिन्होंने इस प्रबंध* को नहीं पढ़ा है अर्थ दंड से दंडित करना चाहिए।

डीक्विन्सी और लेहण्ट. के नाम भी प्रबंधलेखकों की गणना में आते हैं। परंतु हमें आनेवाली शताब्दी के लेखकों के विपय में कुछ ज्ञान न्यूमैन (१८०१-६०), मैथ्यूआर्नल्ड (१८२२-८८) और रस्किन (१८१६-१६००) की रचनाओं में मिलेगा। कार्डिनलन्यूमैन वही लिखता था जो वह कहना चाहता था और उसकी भापा में ज़ोर था। इससे अधिक उसके विपय में कुछ कहा नहीं जा सकता। मैथ्यू आर्नल्ड भी आलोचनात्मक निबंधों के लेखक के रूप में प्रसिद्ध है, कविताओं से उसकी अधिक ख्याति नहीं हुई।

रस्किन के अधिकांश ग्रंथ अब पुस्तकालय की आल्मारियों की ही शोभा बढ़ाते हैं, परंतु उसके प्रबंध-संग्रह अब भी बड़ी रुचि से पढ़े जाते हैं। उनसे पता चलता है कि उसकी कल्पना शक्ति कितनी पूर्ण थी और उसका अध्ययन कितना व्यापक था।

---

* On going a journey.

इसके साथ ही ब्राउनी की भाषा का शब्द-संगीत भी उसकी भाषा के शृंगार के रूप में हमें देख पड़ता है । स्टीवैन्सन इसे सँवारने के प्रयत्न में रस्किन से भी दो क़दम आगे बढ़ जाता है । उसके प्रबंधों का आकर्षण उसके व्यक्तित्व के कारण है ।

१६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के यही चुने हुए प्रबंधलेखक हैं। इसके पश्चात् प्रबंध लेखकों का चुनाव असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है । कदाचित् ही ऐसा कोई ख्याति लाभ करने वाला लेखक हो जिसने प्रबंध न लिखे हों । मासिक पत्रों की बढ़ती हुई संख्या और समाचार पत्रों के बाहुल्य तथा ज़माने की तेज़ रफ्तार ने प्रबंध लेखक को सब से आगे लाकर खड़ा कर दिया है । ढेर के ढेर प्रबंध लेखकों के नाम गिनाये जा सकते हैं । जिनमें से मुख्य-मुख्य ये हैं—

वेजहाट (१८२६-१८७७), वाल्टर पेटर (१८३६-९४), इमर्सन (१८०३-८२), लाएल (१८१६-९१), थैकरे (१८११-६३), फ्रूड (१८१८-६४), हर्बर्ट स्पैन्सर १८२०-१६०३), लार्ड एबबरी (१८३४-१९१३) ऐण्ड्रयूलैंग (१८४४-१९१२), जे० ए० साइमन्स (१८४०-६३), आर० एच० हटन (१८२६-६७), आस्करवाइल्ड (१८५६-१६००), आर० डबल्यू० चर्च (१८१५-६०), लैस्ली स्टीफैन (१८३२-१६०४), मार्ले (१८३८-१६२३) फ्रीमैन (१८२३-६२), ग्रीन (१८३७-८३), हक्सले (१८२५-६५), टिण्डल (१८२०-६३), रिचर्ड जैफ्रसिन (१८४८-८७), एडमण्ड गास (१८४६)

आगस्टिन बिरेल (१८५०) वाल्टर रेले (१८६१–१६२४), ए. जी. गार्डिनर (१८६५), डब्ल्यू. वी. यीट्स (१८६५), एच. जी. वैल्स (१८६६), ई. वी लूकास (१८६८), जान गाल्सवर्दी (१८६१), आरनल्ड वेनेट (१८६७), डीन. इंग (१८५०), जे. के. चैस्टरटन (१८७४), रिचर्डमिडिल्टन, मारिसहयूलेट (१६२३), वर्लनली, ए. सी. वेन्सन, जे०, मिडिल्टनमरी, इत्यादि और अनेक नाम इसमें जोड़े जा सकते हैं। चाहे गीतकाव्य और नाटक के भविष्य के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ न कह सकें, परंतु जहाँ तक अंग्रेज़ी भाषा के प्रबंध-साहित्य के भविष्य से संबंध है, यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह इन लेखकों के हाथों में सुरक्षित हैं।

भारतवर्ष में निबंध शब्द हमेशा प्रबंध के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लेखक के व्यक्तित्व का रूप और उसका विकास निबंध में ही देखने में आता है। आज का निबंध भी निज की रूप साधना की अवतारणा रखता है, चाहे यह साधना मौलिक हो अथवा कृत्रिम, स्वीकृत हो अथवा ओढ़ी हुई। संस्कृत के आचार्यों ने निबंध को बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन बनाया था। समस्त दार्शनिक विश्लेषण छंदों में हुआ, पर थे ये निबंध ही। शैली कहीं-कहीं अत्यंत जटिल होकर सूत्रवत हो गई। बड़ी महीन बुद्धि के सहारे काट-छाँट के पैनेपन से यहाँ न जाने कितने खंडन मंडन हुये। ये आलेख रूखे, वैज्ञानिक और बुद्धि प्रधान थे। जितने प्रबंध गद्य में भी लिखे गये, वे इतने

रूखे और शुद्ध तार्किक थे कि वे साहित्य की कोटि में न आ सके।

हिंदी में प्रवंधों की अवतारणा पाश्चात्य प्रवंधों के अनुसार हुई संस्कृति के आदर्श के अनुकूल नहीं। गोस्वामी जी ने लिखा है—

'भाषा निवन्धमतिमंजुलमातनोति'

जिस प्रकार पद्य के निवंधों में सरसता परमावश्यक हुई उसी प्रकार गद्य के निवंधों में भी सरसता अनिवार्य समझी जाने लगी। निवंधों में प्रवंधत्व की अवतारणा और उनमें विचित्र-विचित्र शैलियों का विकास क्रमशः हुआ।

भारतेंदु के समकालीन निवंधलेखक कला से अवगत न थे। उनमें से कुछ तो अपने निवंधों का आरंभ परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद देकर करते थे। प्राचीन लेखकों में रूढ़िगत धार्मिकता और भावुकता का प्रकाशन भी अधिक मात्रा में किया गया था, किंतु भारतेंदु तथा उनके समकालीन कतिपय लेखकों ने इस दिशा में सफलता प्राप्त की। इस क्षेत्र में सबसे अधिक उत्कृष्ट कार्य पंडित प्रतापनारायण मिश्र का माना जायगा। उनमें विनोद की मात्रा के साथ-साथ स्वगत भाव को अत्यंत स्पष्ट और स्वाभाविक रूप से कहने की क्षमता थी। आत्मीयता उनकी शैली का विशिष्ट गुण है। अन्य लेखकों में कृत्रिम गंभीरता का पुट रहता है जो उक्त कला के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ।

भारतेंदु मंडल के लेखकों के बाद पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

ही ने प्रबंधलेखकों में बड़ी ख्याति पाई। मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक प्रबंधों में स्वर्गीय पं० रामचंद्र शुक्ल अपना विशेष स्थान रखते हैं। शैली की मौलिकता में अध्यापक पूर्णसिंह अपने ढंग के अकेले ही प्रबंधलेखक हैं। वर्तमान लेखकों में बहुत से उच्चकोटि के प्रबंधलेखक हैं। हिंदी साहित्य को उनसे बड़ी आशा है।

हाँ

'हाँ' मनुष्य की स्वाभाविक ढाल है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन की भाँति वह इस 'हाँ' को भी युगों से अपने साथ लाया है। किसी ओर जल्दी ढल जाना, किसी पदार्थ को जल्दी स्वीकार करना, किसी पर जल्दी आसक्त होना ये सब 'हाँ' के ही लक्षण हैं। पशु-सृष्टि में यह धर्म सर्वोपरि पाया जाता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जिस प्रकार मनुष्य ऊपर गिनाई हुई चारों वृत्तियों का रूप निखारता आया है, उसी प्रकार 'हाँ' के रूप को भी समुन्नत करता आ रहा है। 'हाँ' सर्वथा अध्यात्म की नैसर्गिक अभिव्यक्ति नहीं है। उसे वातावरण-निर्मित मानवता का अभिव्यंजन समझना चाहिए। परिस्थितियाँ

मनुष्य के बाहरी रूप के साथ-साथ उसका आभ्यंतर भी निर्माण करती हैं । आत्मा का स्वरूप-ग्रहण भी बाहरी प्रभावों का फल हुआ करता है। जो लोग बात-बात में यह कह दिया करते हैं कि मेरी आत्मा मुझे अमुक काम करने के लिए बाध्य करती है, वे अधिकांश में मूढ़मति, कट्टर, अपरिवर्तनवादी होते हैं। उनमें उन परिस्थितियों की समीक्षा करने की क्षमता और साहस नहीं होता, जिनके परिणामस्वरूप उनकी आत्मा बनी है। 'हाँ' इसी आत्मा का एक प्रत्यय है।

'हाँ' अधिकांश व्यक्तियों के मुँह पर रहता है; क्योंकि दूसरे को प्रसन्न करने की साध मानवता की बड़ी पुरानी है। संघ-वृत्ति की पोषक भावनाओं में यही साध अकेले काम करती है और संघ-वृत्ति मनुष्यत्व के मूल में विद्यमान रहती है। सरलता और बिना प्रयास निकला हुआ यह 'हाँ' अधिकतर न हृदय का सच्चा उद्‌गार होता है और न चिंतना का निष्कर्ष। वह तो वक्ता के वाक्‌संयम के अभाव को प्रकट करता है। हृदय कुछ और अनुभव करता है, मन कुछ और सोचता है और जिह्वा कुछ और कहती है।

चिंतना का निष्कर्ष जब हृदय का कोष बन जाता है और उसके उद्गारों में तर्क और राग का समन्वय होता है तो मुँह से ऐसे-वैसे शब्द नहीं निकलते। चिंतना के निरंतर अभ्यास से, तर्क की पग-पग की समीक्षा से, विवेक के सर्वकालीन प्रयोग से मनुष्य जिस आभ्यंतर का निर्माण करता है, वह वेगसम्पन्न और भावात्मक होने पर भी संयत होता है। वाक् इंद्रिय के प्रयोग में यह नियंत्रण एक सावधान हिचक पैदा कर देता है। दूसरे को प्रसन्न करने की साध को दबाकर हितसाधन की वृत्ति से प्रेरित होता है और वह जब 'हाँ' का प्रयोग करता है तो 'हाँ' के ही अर्थ में करता है। वास्तव में 'हाँ' का यही साधु प्रयोग है।

यह कह सकते हैं कि चिंतना के लिए तर्क और विवेक के कुछ विधान होते हैं। ये विधान भी सर्वकालीन तथा सार्वभौमिक नहीं होते। वे कुछ काल के लिए कुछ परिस्थिति में कुछ स्थान पर ही सत्य होते हैं। और फिर यह सत्य भी सापेक्षिक होता है। ऐसी दशा में इस प्रकार से निर्मित आत्मा का प्रत्यय 'हाँ' कहाँ तक ग्राह्य होना चाहिए? हमें इस उक्ति को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए।

'सत्य' और 'तथ्य' निरंतर प्रवाहवती नदी के सदृश हैं। उनमें भी जीवन है और सजीव के सब धर्म उपस्थित

हैं। जब ससीम असीम की धड़कन पकड़ पाता है अथवा असीम की कम्प से वह सिहर उठता है, उस समय उस काल के लिए जो 'सत्य' और 'तथ्य' के प्रवाह से उसके प्रवाह का संगम होकर अद्वैत स्थापित हो जाता है, वह सैकड़ों आश्रित सत्यों की सृष्टि करता है। इन सत्यों में उतना ही स्थायित्व समझना चाहिए, जितने काल तक ये पुनःनिरीक्षण और पुनः मूल्य-निर्धारण का सामना कर सकें।

पूर्णता का अध्याहार विकासवाद के अनुकूल नहीं है। बढ़ना, उठना, समुन्नत होना पूर्णता में अपूर्ण के आरोप से ही हो सकता है। इस दृष्टि से ईश्वर भी पूर्णता में अपूर्ण है और अपूर्ण पूर्ण है। वह भी निरंतर परिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलता ही ऐसी दशा में पूर्णता का पर्यायी है। ईश्वरीय एषणा भी गतिमती सरिता के रूप में देखनी चाहिए। ईश्वरीय एषणा को सफल करना जीवन का रूप है, परंतु क्षण-क्षण गतिशीलता यह स्पष्ट अवश्य करती है कि कल की परिस्थितियों में परिपाक-प्राप्त एषणा आज कृतकार्य हो, यह आवश्यक नहीं। ऐसी दशा में चाहे नीति हो, चाहे धर्म हो, चाहे समाज हो, किसी को सार्व-भौमिक सर्वकालीन व्यवस्था देने का अधिकार नहीं है।

जीवन के व्यवहार-पक्ष को हमेशा जीवन पर पड़नेवाले अपने प्रभाव के प्रकाश में स्वरूप-निरूपण करना होगा।

सत्य की जब यह दशा है तो जितने काल तक कोई 'तर्क' या कोई 'विवेक' सफल रह सके, उसे युगधर्म के अनुकूल समझकर उसी के प्रकाश में हमें अपना स्वरूप-निर्माण और फिर स्वरूप-दर्शन करना चाहिए। इस प्रेरणा से जो 'हाँ' निकलेगा, वह हमारे विचार से और सत्यों की भाँति सच्चा ही होगा।

'हाँ' सत्य का नियमित रूप है। परंतु सत्य का अनुसंधान जितना ही कष्टसाध्य है, 'हाँ' का असली स्वरूप-ग्रहण भी उतना ही कठिन है। यह विचार भ्रामक है कि सत्य बोलना अत्यंत सरल और झूठ बोलना कठिन है। वास्तव में सत्य बोलने के पूर्व सत्यशोधन करना पड़ता है। सत्य ऊपर-ऊपर ही नहीं रहता। वह न-जाने कितनी तहों में लिपटा रहता है। वह बहुधा इंद्रियों की सूक्ष्म से सूक्ष्म परख से परे रहता है। साधारणतया भी यदि कोई पूछे कि अमुक रेखा कितनी बड़ी है तो यह नितांत निश्चय समझना चाहिए कि एक-आध बाल भर की नाप का अंतर उत्तर को असत्य अवश्य कर देगा। जब स्थूल बातों का यह हाल है तो सूक्ष्म और अवच्छन्न, अमूर्त

भावरूपों को नितांत ठीक-ठीक समझ लेना कोई हँसी-खेल नहीं है। फिर सत्यसूचक 'हाँ' बहुधा असत्य ही हो जाया करता है। यह बात दूसरी है कि किसी ने पूछा कि आपने भोजन किया है और आपने यदि कर लिया है तो आप कह दें 'हाँ'। यह सत्य और यह 'हाँ' कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। अतएव अपनी 'हाँ' को नियमित रूप से सत्य का रूप देने के लिए बहुत सोच-विचार कर उसका प्रयोग करना चाहिए। उसे असत्यों और 'नकारों' के ढेर से अलग करना पड़ता है।

जागरूक और उन्नत व्यक्तियों की 'हाँ' को हम बोझीली 'हाँ' कह सकते हैं। उसमें एक प्रतिष्ठा होती है। उसमें स्थिति-साधना का बोधगम्य रूप होता है। वह वक्ता की आत्मनिर्भरता और उसका मदविहीन अहंकार व्यक्त करता है। श्रोता की आश्रयता और अवलंब को उसमें प्रश्रय मिलता है।

एक प्रकार की 'हाँ' को हम 'कामचलाऊ हाँ' कह सकते हैं। इसका प्रयोग कभी एक बार में और कभी दो बार में होता है। उत्तर में जब इस प्रकार के 'हाँ' का प्रयोग किया जाता है तो इसका अभिप्राय केवल यह होता है कि हाँ, सब काम ठीक चल रहा है। कोई चिंता की

आवश्यकता नहीं । कार्य इसी प्रकार चलता जायगा । बच्चे अपनी दादी की कहानी के बीच में इसी प्रकार के 'हाँ' का प्रयोग किया करते हैं ।

इसी प्रकार एक 'विरामवाचक हाँ' होता है । इसके प्रयोग के बाद प्रयोगकर्त्ता थोड़ा रुकता है । मानों अभी तक की कार्य-पद्धति से उसका विरोध है । वह काम में विराम लगाकर उसकी गति दूसरी ओर मोड़ देना चाहता है । 'कामचलाऊ हाँ' के यह बिलकुल विपरीत पड़ता है । वक्ता का उद्देश्य रहता है कि सारा काम ख़राब हो गया । उसे अब पूर्व-प्रकार से न करना चाहिए । इसका भी एक बार और दो बार दोनों में प्रयोग होता है ।

'काकुप्रयोगी हाँ' को भी सब लोग जानते हैं । इसके प्रयोग में अर्थ की परिलक्षणा अवधारणा के संस्थान से प्रकट होती है । यह 'हाँ' स्वीकारात्मक और निषेधात्मक दोनों ही प्रकार का हो सकता है । संदर्भ से और वक्ता के सात्त्विक भावों से इसका आशय अधिकतर समझा जा सकता है । इस प्रसंग में 'हाँ' का प्रयोग अनिवार्यरूप से पुनरुक्तिमय होता है । किसी व्यक्ति को कुछ लोग लाठी से मार रहे हैं । यदि सहसा घर से निकलकर कोई वेग के साथ दो या एक बार 'हाँ' 'हाँ' कहे तो इसका अर्थ यह

भी हो सकता कि और दनादन पीटे जाओ और यह भी हो सकता है कि सावधान हो जाओ; मारो मत। निश्चित अर्थग्रहण वक्ता के अनुभावों पर आश्रित है।

एक प्रकार का 'हाँ' 'सोहमूसूचक' होता है। इसका प्रयोग करनेवाला कोई पहुँचा हुआ संत, दार्शनिक और आध्यात्मिक व्यक्ति होता है। सोचता-सोचता जब वह किसी अदृश्य परिस्थिति से टकरा जाता है तो उसे स्वरूप-दर्शन होने लगता है। तभी उसके मुँह से निकल जाता है 'हाँ' ! ! ! ! यह 'हाँ' किसी व्यक्ति के किसी प्रश्न के उत्तर में नहीं होता वरन् आत्मा की निजी रहस्योद्घाटन की सूचना देता है। इसका उद्रेक सहसा और बहुधा एकांत में होता है।

इसी प्रकार से एक 'हंस' सूचक 'हाँ' होता है। जिस प्रकार साँस के प्रवेश और बाहर आगमन में 'हंस' 'हंस' शब्द-सा चौबीसों घंटे हुआ करता है—जिससे केवल स्थितिमत्ता का ज्ञान होता रहता है और विश्व की गत्यात्मकता प्रकट होती है—उसी प्रकार इस 'हाँ' के प्रयोग में केवल वक्ता की स्थितिमत्ता का ज्ञान होता रहता है और विश्व की गत्यात्मकता प्रकट होती है। इसके उदाहरण संसार में सैंकड़ों मिलेंगे। किसी ने कहा, 'मोहन है'।

मोहन ने उत्तर दिया 'हाँजी'। उस उक्ति में स्वीकार-भाव उतना नहीं है, जितना स्थिति-भाव है। यदि उत्तरदाता यों कहे 'हाँ—भाई—हैं।' तो इससे विश्व की गत्यात्मकता और स्थिति की नश्वरता की ओर भी संकेत हो जाता है।

इसी भावना से मिलता-जुलता एक 'निश्वासात्मक हाँ' होता है। वक्ता एक गहरी निश्वास लेकर इसका उच्चारण करता है। इससे उसके हृदय की ठेस का पता चलता है। इसमें स्वीकार और अस्वीकार वृत्ति का कोई भाव नहीं रहता। एक गहरी वेदना, एक गहरे आघात, एक गहरे दु:ख को जब मनुष्य सोचता-सोचता ऊब जाता है और वह उस प्रसंग को भुलाने का प्रयास करता है; अथवा सहसा पुराना दु:ख स्पष्ट हो जाता है, तब यह 'हाँ' निकल पड़ता है। यह 'हाँ' व्यक्तिवाचक है; समष्टिवाचक नहीं। इसका संबंध वक्ता के अकेलेपन से है।

एक 'हाँ' प्रश्नवाचक होता है। इसका प्रयोग वैकल्पिक है। 'हाँ तो क्या हुआ ?' में 'हाँ का प्रयोग लोग करते भी हैं और नहीं भी करते। यदि इस स्थल पर 'हाँ' का प्रयोग किया जाता है तो पूर्वकथित भाग के प्रति स्वीकार-वृत्ति अवश्य प्रकट होती है और कौतूहल की मात्रा भी कुछ बढ़ जाती है।

कहीं-कहीं लोग 'हाँ' का प्रयोग यों ही निरर्थक रूप से किया करते हैं। इस प्रयोग को निरर्थक 'हाँ' कहते हैं। यह व्यर्थ का 'हाँ' का प्रयोग लोगों की मूर्खता और उनका अज्ञान प्रकट करता है। किसी को अच्छे कपड़े पहने देख-कर यदि कोई कह बैठे—'हाँ भाई, आज तो बड़े ठाठ हैं' तो यहाँ उसका 'हाँ' का प्रयोग मूर्खतापूर्ण है।

'महत्त्वहीन हाँ' का प्रयोग तो सभी जानते हैं। कुछ ऐसे स्थल होते हैं, जहाँ 'हाँ' और 'न' का प्रयोग कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। यदि कोई किसी से पूछे कि क्या तुम्हारे पास दो ऐनकें हैं तो यदि दूसरा 'हाँ' कह दे तो इस 'हाँ' में कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता। इसी प्रकार इन प्रश्नों के उत्तर में कि क्या आपने भोजन कर लिया, क्या मोहन स्कूल गया, क्या तुम्हारा चित्त क्षुब्ध है, यदि 'हाँ' कहा जाय तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। कभी-कभी ये प्रश्न और इनके उत्तर बिलकुल सारहीन होते हैं।

'आदर्शसूचक हाँ' से हम सब भली प्रकार परिचित हैं। 'हाँ-हाँ कहो न' इस प्रकार का 'हाँ' कुछ पूछता है और आदेश देता है। ऐसे आदेशों में सहानुभूति अवश्य छिपी रहती है। इसी दृष्टि से आदेशसूचक 'हाँ' साधारण आदेश-वाक्यों से भिन्न होते हैं।

'उपसंहारसूचक हाँ' तो बहुत बड़े-बड़े लेखकों की शैलियों में मिलता है। 'हाँ तो हम यह बता चुके हैं'। इस प्रकार के वाक्य किसी भी पुस्तक में पैराग्राफ़ के आरम्भ में ही मिलते हैं। लेखक जब पूर्वकथित विषय को संक्षेप में उपसंहाररूप देने लगता है तो इस प्रकार के 'हाँ' का प्रयोग होता है। इस 'हाँ' में पूर्वस्मृति को जागरित करने का संदेश रहता है, उस विषय पर लेखक की आस्था दृढ़ है, ऐसा प्रतीत होता है और उससे वह कोई निष्कर्ष निकालना चाहता है, यह भी मालूम होता है।

जिस प्रकार हँकारगर्भित नहीं के विषय में पाठक 'नहीं' वाले लेख में आगे पढ़ेंगे, उसी प्रकार नकारगर्भित 'हाँ' भी होता है। इसमें विरोधार्थध्वनि की अवतारणा होती है। भोजन करते समय यदि परोसनेवाला यह देखकर भी कि पूड़ियाँ रक्खी हैं, यह कहे कि पूड़ियाँ चाहिए तो एक बार मन चाहता है कि यह कह दें कि 'हाँ'। इस 'हाँ' में 'न' का अध्याहार रहता है।

विक्षोभसूचक 'हाँ' के उदाहरण तो प्रतिदिन मिलते हैं। किसी वस्तु पर यदि कोई आवश्यकता से अधिक अधिकार दिखाता है तो लोग अक्सर कह बैठते हैं— "क्या यह तुम्हारे बाप की है?" इसके उत्तर में यदि वह

कहे 'हाँ ! है तो', तो यहाँ पर यह 'हाँ' परिस्थिति के अनुसार निषेधार्थध्वनि और स्वीकारात्मक ध्वनि दोनों ही का वाचक हो सकता है। परंतु अधिकांश में ऐसे स्थलों का 'हाँ' काकुवक्रोक्ति से निषेधार्थ ही देता है । ऐसे प्रयोग क्षोभसूचक होते हैं।

शृंगार-क्षेत्र में 'हाँ' तो एक इतिहास ही रखता है। शृंगार-कला-विशारदों के पास इसकी एक व्याख्या रहती है। मनोभावों के न-जाने कितने स्वरूप रसिकों के मन-बहलाव के निमित्त 'हाँ' से चित्रित होते हैं। इसी 'हाँ' के पीछे न-जाने कितनों को कितनी बरबादी उठानी पड़ी है और पड़ती है। इस क्षेत्र में ही सबसे अधिक 'हाँ' के बाण 'नहीं' की विषाक्त अनी से सजकर खुले हुए सीने से स्वागत करनेवाले बलि-पशुओं के हृदयों में आजन्म खटका करते हैं । न वे निकलते हैं और न घाव अच्छे होते हैं। साथ ही साथ इसी 'हाँ' ने न-जाने कितनों का जन्म सुधार दिया । कितनों के देवता मंदिरों में प्रति-स्थापित हो गये। खूब शंख-घड़ियाल बजे और प्रतिदिन बजते हैं।

अध्यात्म-प्रेम में यह 'हाँ' युगों का मैल धो देता है। अंश जब अंशी के लिए तड़पता है, उससे अद्वैत-लाभ के लिए

विह्वल हो उठता है, ध्येय जब कृपापूर्वक अपनी प्रकाश-रश्मियाँ क्षण भर के लिए कभी-कभी ध्याता पर आलोकित कर देता है तो जो प्रसन्नता, जो तन्मयता भक्त को उन सुंदरतम क्षणों में भगवान् के लिए उत्पन्न हो जाती है, वही तो उसका सर्वस्व है। इन झिलमिल-झिलमिल सहसा कौंध जानेवाली अलौकिक परिस्थितियों को ही भगवान् का 'हाँ' समझना चाहिए। 'हाँ' का यह समाहार भक्त का प्रोत्साहनकोष है। यह 'हाँ' सुनाई भी देता है और दिखाई भी पड़ता है।

नहीं

मेरे हृदय में अचानक कई बार यह प्रश्न उठा कि मुझ-से जितनी सरलता से किसी भी काम के लिये 'हाँ' निकल जाया करता है, उतनी सरलता से 'नहीं' नहीं निकलता। इस बात पर मैंने कई बार गंभीरता-पूर्वक विचार भी किया, किंतु किसी निष्कर्ष पर न पहुँच सका। मैंने यह भी देखा कि जो व्यक्ति मुझसे अधिक संयमी और जागरूक हैं, तथा जिनकी आत्मा मुझ से अधिक समुन्नत है, उन्हें 'नहीं' के प्रयोग में अधिक कठिनता नहीं होती। कुछ भद्र पुरुष मैंने ऐसे देखे, जिन्हें 'हाँ' और 'नहीं' के प्रयोग में सम प्रयास होता है। अर्थात् जिस सरलता से वे 'हाँ' कहते हैं, उसी सरलता से 'नहीं' भी कह दिया करते हैं। परंतु मेरे

ऐसे सांसारिक व्यक्ति को 'नहीं' कहने में बड़ी कठिनता मालूम पड़ती है। 'नहीं' कहते हुए ऐसा प्रतीत होता है, मानो मैंने अपने उस मित्र का सर्वस्व अपहरण कर लिया, अथवा उसका घोर अपमान किया, जिसके प्रति मैंने इस शब्द का प्रयोग किया है। 'हाँ' बड़ी सरलता से कंठ पर आ जाता है, मानो उसके लिये मस्तिष्क को कोई प्रयास ही नहीं उठाना पड़ता। अपने भाव व्यक्त करने के लिये, हृदय के उपयुक्त शब्दों की भिक्षा माँगने के लिये मस्तिष्क का द्वार खटखटाना पड़ता है; किंतु मैंने बहुधा देखा है कि यह 'हाँ'-शब्द उसके द्वार पर ही खड़ा रहता है। हृदय 'नहीं'-शब्द की माँग पेश करता है, किंतु उसके स्थान में 'हाँ' मुँह से निकल जाया करता है। पीछे हृदय को उसका पश्चात्ताप भी होता है।

ऐसा क्यों है, यह समस्या विचारणीय है। जन्म होते ही प्रत्येक व्यक्ति की जो सबसे प्रथम बलवती इच्छा होती है, वह अपने अस्तित्व के क़ायम रखने की। मा के पेट से बाहर आते ही बालक जिसके लिये रुदन करता है, वह अपना अस्तित्व स्थापित रखने की इच्छा है। यही इच्छा आगे चलकर मा द्वारा दूध पिला-पिला कर दूध की इच्छा में परिवर्तित हो जाती है। प्रत्येक प्राणी में पैदा होते ही

इच्छा का होना इस बात का द्योतक है कि प्राणी के व्यक्तित्व ने ब्रह्मांड से संपर्क किया है, क्योंकि इच्छा एक सामासिक पद है । इच्छा किसी दूसरी वस्तु की उपस्थिति पहले ही मान लेती है, और उसके साथ प्राणी का संपर्क हुआ है, यह भी बतलाती है । उत्पन्न होते ही प्राणी में इच्छा का समावेश होता है, अतएव कुछ लोग इससे यह सिद्ध समझते हैं कि प्राणी का व्यक्तित्व जन्म लेने से पूर्व भी था । बहुधा लोग प्राणी के पुनर्जन्म-वाद में भी यही युक्ति देते हैं ।

आत्मा और ब्रह्मांड वास्तव में एक ही वस्तु है, यह वेदांतिक सिद्धांत है । एक रूप होने के कारण आत्मा निरंतर ब्रह्मांड से अपना संपर्क रखने से प्रसन्न रहती है । प्रसन्नता में आत्मा का विकास होता है, और आत्मा बढ़ती है । मनुष्यों का निरंतर यह उद्योग होता है कि वे महान् आनंद अथवा ब्रह्मानंद को प्राप्त करें, अर्थात् उनकी आत्मा इतनी बढ़ जाय कि आत्मा और ब्रह्मांड एक हो जायँ, तथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" चरितार्थ हो ।

खैर, हम अपने विषय से थोड़ा दूर आ गए है, किंतु अपनी बात प्रतिपादन करने में हमें इन बातों के कहने की भी आवश्यकता थी । हमारी समस्या यही थी कि हम

लोगों के मुँह से जितनी शीघ्रता के साथ 'हाँ' निकलता है, 'नहीं' नहीं निकलता। 'हाँ' में अनेक भावनाओं के साथ-साथ प्रसन्न करने की इच्छा भी निहित रही है। एक आत्मा में ब्रह्मांड को प्रसन्न रखने की इच्छा स्वाभाविक होती है, क्योंकि प्रसन्नता से वह अपनी और ब्रह्मांड की आत्मा की वृद्धि अनुभव करती है। हम ऊपर कह चुके हैं कि आत्मा की वृद्धि प्रसन्नता है वृद्धि से निकटता प्रतीत होती है। अतएव 'हाँ' बड़ी शीघ्रता से हमारी आत्मा के मुख पर आता है, 'नहीं' में मध्यम पुरुष के रुष्ट करने की मात्रा तिरोहित रूप में विद्यमान रहती है। रुष्ट होने से कष्ट और कष्ट से दुःख होता है। दुःख से आत्मा संकुचित होती है, अतः संपर्क असंभव हो जाता है। आत्मा ब्रह्मांड के प्रति दूरत्व का भाव अनुभव करने लगती है, इसी से 'नहीं' कहना प्राणियों के लिये दुःखदायी है।

अब यह प्रश्न होता है कि यदि 'नहीं' दूरत्व का कारण है, और मनुष्य का अंतिम उद्देश्य आत्मा तथा ब्रह्मांड का एकीकरण है, तो फिर हमने ऊपर यह क्यों कहा कि कुछ अधिक संयमी लोगों के लिये 'नहीं' कहना उतना ही सुलभ है, जितना 'हाँ' कहना। क्या जागरूक और संयमी लोगों का ध्येय कुछ और है? बात ऐसी नहीं है। कारण केवल यह है कि शेष और अशेष के विकास के साथ अवांछनीय

पदार्थ का सम्मिश्रण हो जाता है। वेदांत में जिस विकार को 'अनिर्वचनीय' कहा है, उसी का तम-स्वरूप कभी-कभी प्राणियों को आच्छादित कर देता है। अर्थात् 'मैं'· 'तैं' का पर्दा निर्मल विवेक के सामने पड़ जाता है। आत्मा पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म खोल चढ़ जाता है, और आत्मा के आभास तथा उसकी आज्ञा की परख करनेवाली बुद्धि को जल में स्थल और स्थल में जल का भ्रम हो जाता है। सत्-चित् आनंद की ओर ब्रह्मांड से संपर्क करने की इच्छुक आत्मा को बुद्धि के दर्पण में मृग-मरीचिका-सा भ्रम हो जाता है। जो बातें वास्तव में ब्रह्मांड के संपर्क से दूर करनेवाली हैं, और जिन्हें स्वीकार करने में उसे निःसंकोच 'नहीं' का प्रयोग करना चाहिये, उनके प्रति कुछ का कुछ समझकर 'हाँ' कह बैठता है। हम माया की सार्वभौमिकता को भूल जाते हैं। जिस 'नहीं' के कहने में हमें आनंद होना चाहिए, उसमें दुख होता है। जिससे आत्मा की वृद्धि होकर ब्रह्मांड से निकटता अनुभव करनी चाहिए, उसमें हम आत्मा का संकुचित होना अनुभव करते हैं। यह बात आत्मसंयमी जागरूक लोग समझते हैं। इसी से वे ऐसे स्थान पर 'नहीं' का प्रयोग करते हुए उतने ही आनंद और उतनी ही निकटता का अनुभव करते हैं, जितना 'हाँ' कहने में। और, वास्तव में इस 'हाँ-नहीं' में कोई अंतर नहीं है। जागरूक किस प्रकार

की 'नहीं' को स्पष्ट कह डालते हैं, उसका एक उदाहरण देकर हम विषय को और स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

प्रेम मानव-समाज का आवश्यक अंग है। निम्न कोटि की सृष्टि में ही मनुष्य ने अपने विकास के साथ-साथ इसे प्रस्फुटित किया है। यहाँ यह दिखाने का स्थान नहीं कि प्रेम कितने प्रकार का होता है, उसकी नैतिक उपयोगिता क्या है, उसमें स्वाभाविकता कहाँ तक है, शरीर का उससे कहाँ तक संबंध है, अथवा उदारता, उपासना, दया, सहानुभूति, मैत्री इत्यादि शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रेम-प्रमाणों में क्या अंतर है। इस बात के मानने में संभवतः किसी को आपत्ति न होगी कि प्रेम में बड़ा भारी आकर्षण है। आकर्षण के कारण ही आत्मा और ब्रह्मांड का संबंध सम्भव है, जिसके संबंध में हम ऊपर कुछ लिख चुके हैं। आत्मा के लिये अपना आकर्षण, अपनी तल्लीनता, एकता और ओत-प्रोत भावना प्रकट करने का साधन स्थूल संसार में उसका शरीर ही है। अतएव प्रेमी के निकट रहने पर ओत-प्रोत इच्छा के अतिरेक का प्रदर्शन यदि स्थूल शरीर के अवयवों द्वारा हो, तो नितांत स्वाभाविक है। हम घंटों अपने मित्र के हाथ में हाथ रखकर बातें करते हैं। ऐसा करने में हमें बड़ा आनंद मिलता है। ऐसी अवस्था में यदि प्रेम के प्रवाह के साथ जागरूकता नष्ट हो, और मन में क्रांति का

प्रादुर्भाव होने लगे, तो क्या जागरूक व्यक्ति ऐसी लहर के लिये 'नहीं' शब्द न कह उठेगा? कदाचित साधारण व्यक्ति प्रेम के ओत-प्रोत द्वारा ब्रह्मांड से किलोल करने की इच्छा के ऐहिक साधनों में एक जागरूक की 'नहीं' को निसर्ग गति का बाधक समझकर कहे कि अमुक व्यक्ति के जीवन का दृष्टिकोण ही निराला मालूम पड़ता है, अथवा अमुक व्यक्ति सांसारिक हँसी और उदाहरण के कारण जीवन की वास्तविक महत्ता नहीं समझता; किंतु बात ऐसी नहीं है। उन्हें यह मालूम नहीं कि ब्रह्मानंद प्राप्त करने के लिये, अपनी आत्मा को ब्रह्मांड से ओत-प्रोत करने के लिये। अंत में स्थूल शरीर बाधक ही समझा जाता है। सूक्ष्म और सूक्ष्म के संपर्क में स्थूल का क्या काम? वह तो अड़चन ही डालेगा। वह तो विकार-युक्त है। उसकी शक्तियाँ भी परिमित हैं। संतकवि कबीर कहते हैं—

जा मरने से जग डरै, मोंहि परम अनन्द,
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरनपरमानन्द।

ऐसी अवस्था में जब स्थूल शरीर बाधक है, तो उसके आश्रय से हम प्रेम-स्रोत बहाकर अखंड ब्रह्मांड के सत्-चित्-आनंद की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं? हमने शरीर द्वारा प्रेमरस प्रवाहित करके भी कई बार प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर लिया है कि ऐहिक ओत-प्रोत से आत्मिक

ओत-प्रोत की संभावना
नहीं कहा जाता है। इस
के बुखार की डिगरी अ
कर फ़ौरन् ही 'नहीं' क

सम्भव है हमने अ
स्पष्ट करने में कुछ एक
हैं कि ऊपर के जिस ऐ
उदाहरण बतलाया है,
की सूक्ष्मता प्रकट कर
विषय ऐसा है कि कुछ

ख़ैर, ऊपर हमने
किया है, वह केवल ए
जा सकती है। शब्द
विभिन्न एवं विचारणी
अथवा 'हाँ' केवल य
कोई अधिक महत्त्वपूर
विवेचना की कोटि
अथवा प्रयोग में प्रयुक्त
यदि मोहन ने सोहन से
और सोहन ने उत्तर
तो इस स्थान में 'नह

नहीं, अतएव यह कोई नया प्रयोग
लिये एक जगरूक शरीर-विकार
पनी विवेक के थर्मामीटर से परख-
ा प्रयोग करता है।

पनी बात को आवश्यकता से अधिक
ोपन से काम लिया है। हम जानते
हिक प्रेम-प्रदर्शन को हमने एक बुरा
उसके भी अपवाद हैं। भाषा विचार
ने में बहुधा असमर्थ होती है। फिर
का कुछ समझा जा सकता है।

'नहीं' के संबंध में जो कुछ ऊहापोह
क शास्त्रीय दार्शनिक विवेचना कही
द-संसार में भी 'नहीं' का प्रयोग
य है। बहुत-से स्थान में लोग 'नहीं'
ों ही प्रयुक्त किया करते हैं। उनके
ा अर्थ नहीं रहते। हम ऊपर की
में साधारण नकारात्मक वाक्य में
क 'नहीं' को सम्मिलित नहीं करते।
पूछा—"क्या तुमने पुस्तक देखी है?"
दिया-"नहीं, मैंने पुस्तक नहीं देखी।",
हीं'-शब्द का प्रयोग किसी महत्त्व का

नहीं, अतएव इस पर कोई विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हम दैनिक व्यवहार में बहुत स्थानों में 'नहीं' को 'हाँ' के अर्थ में प्रयोग करते हैं। हम किसी दावत में बहुधा परोसनेवाले से कह दिया करते हैं कि हमें अमुक वस्तु की आवश्यकता नहीं यद्यपि वास्तव में हमें उसकी आवश्यकता रहती है, और परोसनेवाला भी हमारा मनोगत भाव समझ जाता और वही वस्तु हमें ला देता है। बहुत-से बालकों को यह ज़िद होती है कि उन से जो काम कहा जाता है, उसे कभी नहीं करते। उनसे काम लेने के लिये बहुधा लोग यह कहते हैं कि तुम अमुक काम न करना। इसका परिणाम यह होता है कि वे चिढ़कर ठीक काम करने लगते हैं।

हमने बहुत-से मित्र देखे हैं जो फ़ौरन् कुछ-न-कुछ बहाना बनाकर एक कठिन काम के लिये तुरंत 'नहीं' कह दिया करते हैं, और फिर उसी काम को बड़े चाव से करते हैं। वे लोग दिल के बड़े अच्छे होते हैं, और उनकी 'हाँ-नहीं' का दिल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह एक साधारण बोल-चाल, रीति-रिवाज की मिथ्या शिष्टता हो जाती है। हाँ, इसमें वाक्-संयम का अभाव अवश्य प्रतीत होता है।

बहुत-से सज्जनों को हमने देखा है कि वे केवल तंग करने की दृष्टि से 'नहीं' का प्रयोग किया करते हैं। इसी में वे लोग भी सम्मिलित हैं, जिन्हें मना करने की

बहुत आदत पड़ जाती है। जिस बात में वे देखते हैं कि इसके बग़ैर काम नहीं चलता, उसमें और भी बारंबार 'नहीं' करते हैं। यह भी एक प्रकार का वाक्-जाल है।

कभी एकाएक अशिष्ट रूप से कोई प्रश्न कर देने से 'हाँ' के स्थान में 'नहीं' निकल जाता है। इँगलैंड के एक बड़े भारी कवि की जीवनी में लिखा है—एक रमणी को वह अधिक चाहता था, और उससे उसका विवाह क़रीब-क़रीब निश्चय था, क्योंकि वह भी उसे प्यार करती थी। एकाएक जोश में आकर उसने एक दिन अपनी भावी पत्नी से यह कह दिया—"क्या तुम मुझसे विवाह करोगी ?" वह न-जाने किस ध्यान में थी, उसने तुरंत उत्तर दिया "नहीं", और विवाह नहीं हुआ, यद्यपि दोनों जन्म-भर अविवाहित रहे। ऐसे 'नहीं' बहुत अनर्थ-कारी और दुःखदायी होते हैं।

एक अकड़पन की 'नहीं' होती है, जिसे अँगरेज़ी में Aristocratic No कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—एक अधिक शक्तिवाले की छोटे के प्रति और दूसरे एक छोटे की अकड़ बड़े के प्रति। हमने देखा है कि किसी से अनायास शत्रुता रहने के कारण उसकी सब बातें ख़राब-ही-ख़राब मालूम पड़ती हैं। वह यदि दीन होकर भी एक पैसा माँगे, तो फ़ौरन् 'नहीं' निकल जाती है। हृदय

कहता भी हो, तो भी तबियत उसे किसी प्रकार सहायता देना नहीं चाहती । यह शत्रुता चाहे सकारण हो, चाहे अकारण; किंतु परिणाम में 'नहीं'-शब्द मौजूद रहता है। इसी प्रकार क्षीण शक्ति होते हुए भी हम कैसे अमुक व्यक्ति से कुछ लें, यह भाव कुछ नासमझ व्यक्तियों में रहता है। यदि विपत्ति में बड़े उनका आदर करना चाहें, और कुछ देने की चेष्टा करें, तो वे फौरन् 'नहीं' कहकर अपना नुक़सान कर बैठते हैं। इस प्रकार की 'नहीं' मिथ्या अभिमान का परिणाम है, अतएव यह भी बुरी है।

जिस प्रकार 'नहीं' में 'हाँ' छिपे रहने का उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं, उसी प्रकार 'हाँ' में भी 'नहीं' का भाव छिपा रहता है। बहुत-से दुष्टप्रकृति मनुष्य ऐसे हैं कि जब उन्हें किसी को क्षति पहुँचानी होती है, तो फ़ौरन् उसके सहायक बनने के लिये 'हाँ' कह देते हैं, उसके साथ सहयोग करते हैं, इस सहयोग में अतिरेक असहयोग भरा रहता है। समय पर ऐसे लोग बदला लेकर बड़ी क्षति पहुँचा देते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति बड़े विश्वासघाती होते हैं। इस 'नहीं' के उदाहरण में रामायण की प्रसिद्ध प्रतापभानु की कथा दी जा सकती है।

प्रेमियों और प्रेमिकाओं की 'नहीं' की भाषा से सारा साहित्य भरा पड़ा है। सर वाल्टर स्काट का अपनी

नायिका के लिये 'Half consenting, half denied' (मन-मन भावे, मुड़ी हिलावे) कहना इसी कोटि की 'नहीं' का एक अंग है। यह विषय गहन है, इसलिये शृंगारिक 'नहीं' की विवेचना करना हमारी शक्ति में नहीं है।

हमने तो केवल उस 'नहीं' की चर्चा की है, जिसे निःसंदेहात्मक 'नहीं' अथवा आज्ञात्मक 'नहीं' कहते हैं। हम उस 'नहीं' की चर्चा करते है, जो अयोध्या की गद्दी को स्वीकार करने के संबंध में भरत की थी। हम उस 'नहीं' की बात चलाते हैं, जो विभीषण ने एक बुरे राजा के सहयोग के विषय में कह दी थी। हमें उस 'नहीं' पर विचार करना है, जो 'मनुष्यत्व' 'पशुत्व' के निरंतर संग्राम में 'मनुष्य' 'पशु' को कहा करता है। हमने यहाँ, अपनी बुद्धि के अनुसार, उस 'नहीं' की ओर संकेत किया है, जो सांसारिक सुखों में निमग्न राजा-महाराजा अपनी राजश्री के प्रति कह दिया करते हैं। महाराजा भर्तृहरि और गौतम बुद्ध इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। न-जाने कब किसके हृदय में इस प्रकार की 'नहीं' का प्रादुर्भाव हो जाय।

दारिद्र-दर्पण

मेरी आयु उस समय तीन वर्ष से कम ही होगी। वायु कानों में सहसा प्रवेश करने लगी। नेत्रों के समक्ष वृक्षों की हरियाली और आकाश की नीलिमा में अंतर प्रतीत होने लगा। गीली मिट्टी की सोंधी-सोंधी सुगंध ने घ्राणेंद्रिय को सजग कर दिया। एक धीमे से गिन्नाटे के शब्द के बीच-बीच में लोगों की बातचीत, पक्षियों का कलरव, पशुओं का नाद कानों तक पहुँच जाता था। वाह्य परिस्थिति की कठोरता का स्थूल अनुभव चेतना-गम्य था। माता का कंकण गड़ रहा था; परंतु कोमल हाथ अनुकूल था। कुछ गर्मी-सी थी। मैंने पहली बार अपनी माता को पहचाना। उनका मुख पहली बार दिखाई दिया। अपने शरीर का आकार दिखाई देने

लगा। पास ही माता का अंचल घसीटते हुए, रोते हुए 'दादा'—भड़े भाई—की भी सुध आ गई। पिता जी कुछ डरावने और कुछ मृदुल थे; परंतु माता बहुत अच्छी थीं। गाड़ीवान का फटा साफा और नग्न कृष्ण शरीर मुझे बहुत दिनों तक स्मरण रहा। हम लोग एक बड़ी बैलगाड़ी पर बैठे थे। गाड़ी छाया में खड़ी थी। दोनों बैल उस बड़े वृक्ष की जड़ में बँधे थे—हाँ बँधे थे। एक बैल के सींग उसकी आँखों में प्रवेश करने का प्रयास कर रहे थे।

हाँ, मैंने यह सब झटपट देखा। मैंने उड़ती हुई हवा का घर्राटा सुना। लहराते हुए वृक्षों का कंप देखा। और बहुत-सी बैलगाड़ियाँ देखीं। खड़े हुए काले-काले, मोटे-मोटे लड़कों को देखा। बस इतना ही स्मरण है। एक झटके से इंद्रियों में चेतना वह आई थी। उसने अपना काम समाप्त कर, न जाने मुझे फिर कहाँ, किस परिस्थिति में ढकेल दिया। मुझे उसके पूर्व की और उसके पश्चात की स्थिति का तनिक भी स्मरण नहीं है; परन्तु सम्भव है कि बाह्य परिस्थिति का परिज्ञान उसी सूक्ष्म और धूमिल झलक पर अटक कर विकसित हुआ हो। सांसारिक-ज्ञान का यह पहला अनुभव था।

(२)

एक निर्धन विद्यार्थी की आत्म-गाथा ही क्या ? कहीं से पुस्तकों की भीख, कहीं से कपड़ों का दान, कहीं से फ़ीस की योजना, इसी प्रकार विद्योपार्जन हुआ। ऐसे जीवन में करुणा रस का साम्राज्य स्वाभाविक ही है। प्रातः-काल अध्यापन से वेतन-अर्जन करना, मध्याह्न में कॉलेज जाना और सायंकाल में फूटबाल खेलते हुए एक ट्यूशन निपटाकर ८॥ बजे घर आना, और माता, बहन और भाइयों की आर्त-कथा सुनते-सुनते अभावों की चिंताओं में सो जाना और दूसरे दिन से फिर वही अभिनय आरम्भ कर देना, जीवन को निर्जीव कल की भाँति घुमाये चला जाता था। न साहित्याभिरुचि न श्रम-विनाश; परंतु हाँ, इस जीवन का भी मूल्य था। भगवान् की सत्ता में अटल श्रद्धा और उसकी सहायता में निश्चल विश्वास, मुझमें सर्वदा के लिए जागरित हो गये। यह स्पष्ट में विरोध-सा मालूम होगा, यदि मैं कहूँ कि मेरा जीवन सफलताओं का केंद्र था; परंतु एक निर्धन का भी जीवन सफलता का समाहार हो सकता है। मुझे विफलता का बहुत कम स्मरण है।

× × ×

परंतु यह अवश्य है। कि मुझे अपनी निजी शक्ति में कोई भरोसा नहीं। जिस काम में मैंने जितना ही अधिक परिश्रम किया, सफलता उतनी ही दूर भागती गई। नये-से-नये आयोजन विफल हुए। जब विकट विफलता के कशाघात ने मुझे तिलमिला दिया और मैं असहाय निराश्रित की भाँति 'उसकी' शरण गया, तो सफलता पैरों पर आ गिरी; परंतु किस दिशा से और कहाँ से, यह मैं स्वयं न समझ सका। दुःखों के थपेड़ों ने मुझे जितनाही अनुभव-संपन्न बना दिया है उतनाही मुझे आस्तिक भी बना दिया है। मुझे भगवान के अस्तित्व में उतना ही विश्वास है, जितना अपने अस्तित्व में। इसको तर्क के आधार पर मैंने कभी निश्चय नहीं किया; परंतु, अपने साक्षात अनुभव के बल पर यह विश्वास स्थिर किया है। इसके प्रयोग जीवन में सैकड़ों बार आये हैं और प्रत्येक बार मेरा यही निष्कर्ष रहा है। 'वह' मेरे लिये सजग क्रिया स्वरूप है। 'वह' मेरी भक्ति-भावना का चिरंतन आलंबन है; परंतु इस से यह न समझना चाहिये, कि उसने मेरे संपूर्ण क्रिया कलाप को आलोकित कर रखा है। वह तो मेरी सहायता तभी करता है, जब मैं शोकातुर होकर उसका सहारा चाहता हूँ।

(३)

दरिद्र-दर्पण ने बहुत-सी आकृतियों के धुँधले चित्र ग्रहण किए; परंतु दर्पण दरिद्र ही ठहरा। जब ग्राहिका-शक्ति मंद है, तो प्रक्षिपन-शक्ति कैसे तीव्र हो सकती है। टेढ़ी-मेढ़ी, मोटी-पतली रेखाओं से बने हुए आकार आकर्षक नहीं हो सकते।

अच्छा, तो साहित्यिक-क्षेत्र में मुझे कब, कौन, कैसा मालूम पड़ा, इसकी थोड़ी चरचा कर देना अरोचक न होगा। कॉलेज के अध्ययन के समय ही स्वर्गीय गणेश-शंकरजी से मेरी भेंट हुई। वह भी स्वार्थ-वश। उनकी चमकीली आखें, उनके रूखे-रूखे खड़े हुए केश, स्थूल चश्मे से हृदय में प्रवेश करनेवाली उनकी दृष्टि, उनकी मुस्कराती हुई मनुहार, तथा सहानुभूति से लिपटी हुई गंभीर मुद्रा मुझे भली प्रकार स्मरण है। वे मेरा हाल बहुत देर तक पूछते रहे और मुझे परामर्श देते रहे। उनका दुबला शरीर बड़ी सुघड़ता के साथ मेज़ के एक कोने पर स्थित था। बात करते-करते उन्होंने मुझसे कहा—'द्विवेदी जी को देखने चलिएगा! वे जुही में रुग्ण पड़े हैं।' हम दोनों चल दिए।

गणेशजी के पैर चप्पलों में होते हुए भी वेग से

पड़ रहे थे। उन्हें बड़े-बड़े डग लेने का अच्छा अभ्यास था। जितनी देर हम लोग रहे, गणेशजी निरंतर कुछ-न-कुछ कहते रहे। उनके प्रत्येक कार्य में वेग था। उनके प्रत्येक विचार में प्रौढ़ता और फुरती थी। उनमें निश्चय था, उनमें दृढ़ता थी। उनमें नेतृत्व के सारे गुण थे। साहित्यिक-कार्य उनका गौण था, राजनैतिक प्रधान। इसके बाद मैंने उन्हें बहुत समझा। बहुत काल उनके संपर्क का सौभाग्य रहा; परंतु प्रथम दिवस का चित्र सर्वदा हृदय में बना रहेगा।

पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी रुग्ण-शय्या पर आसीन थे। हम लोगों को देखते ही उठ बैठे। मैंने उनके चरण स्पर्श किये। मेरा परिचय कराया गया। उन्होंने स्वयं मेरे संबंध में इतनी बातें कहीं, जितनी और किसी को न ज्ञात थीं। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि द्विवेदी-जी साहित्य के गहन विषय को ही नहीं पढ़ते, उनकी जानकारी, जो कुछ भी अच्छा-बुरा हिंदी में छपता है सब के संबंध में भी थी। उनके दुर्बल शरीर में बहुत कम शक्ति थी। उनके नेत्रों में नोकीलापन था और उनकी ओर देर तक देखना असंभव था। उनकी मोटी-मोटी भौंहों के लटकते हुए बाल ऊपर के पलकों के लंबे-लंबे बालों को

स्पर्श करते थे। कादंबरी में दिये हुए जाबालि ऋषि के चित्र से द्विवेदीजी की आकृति बहुत कुछ मिलती थी। हाँ, न उनके डाढ़ी थी और न केश उतने सफेद थे। कमरा बिलकुल साफ़ था। शिवनारायणजी वैद्य के साथ मैं तो द्विवेदीजी के लिए पपीते का दूध लेने चला आया परंतु गणेशजी वहीं बैठे रहे।

कई वर्षों बाद, मनीराम की बगिया में द्विवेदीजी के फिर दर्शन हुए। उन्होंने अपनी असीम कृपा-द्वारा मुझे एक कॉलेज में प्रोफेसरी के स्थान दिला दिया था। मेरा-उनका पत्र-व्यवहार निरंतर हुआ करता था। इस बार भी द्विवेदीजी रुग्ण होकर ही कानपुर आये थे। उनके मनोविनोद के लिए हम लोग भी उनके पास पहुँच जाया करते थे। उसी समय 'कविकिंकर' वाला लेख वर्तमान रहस्यवादियों के संबंध में निकला था। उस लेख की बड़ी चरचा रहती थी। उनसे वर्तमान कवियों के संबंध में मुझे बात करने का काफ़ी अवकाश मिला। बहुत से वर्तमान ख्यातनामा कवियों के संबंध में उन्होंने अपनी बीती कथाएँ बतलाईं। उनकी बातें ऐसी रुचिकर और ज्ञानवर्धक होती थीं कि हम लोगों को उनके निकट से हटना बहुत अखरता था।

एक बार उन्होंने एक संस्कृतज्ञ मित्र से पूछा—

'आपने कौन-कौन-से साहित्य के ग्रंथ पढ़े हैं ?' उन्होंने लगभग सभी ग्रंथों के नाम बतला दिये। द्विवेदीजी ने शिशुपालबध और उत्तररामचरित के कुछ सुंदर भावों को सुनने की जिज्ञासा प्रकट की। हम लोगों में से किसी को कोई अच्छा श्लोक स्मरण न आया। फिर उन्होंने स्वयं न-जाने कितने सुंदर-सुंदर श्लोक भवभूति, माघ और कालिदास के सुनाये होंगे। उनकी इस आयु में ऐसी स्मरण-शक्ति देखकर हम सब चकित रह गए।

\+ \+ \+

एक बार प्रताप-प्रेस में साहित्य-सेवियों का एक समाहार हुआ। कदाचित किसी विवाह में लोग आमंत्रित थे। श्री रायकृष्णदासजी और श्री मैथिलीशरणजी गुप्त पास-ही-पास ठहरे थे। श्री अजमेरीजी हेमला सत्ता का किस्सा अपने लहजे से सुना रहे थे। गणेशजी भी पास बैठे थे। लोग आनंद ले रहे थे। रायकृष्णदासजी की आकृति एक सुखाकृत संपत्तिशाली नवयुवक की प्रतिकृति थी। वे कम बोलते थे और अधिक सुनते थे। उनका रेशमी बनारसी कुरता, महीन धोती के ऊपर बड़ी शोभा दे रहा था और किसी भी काशी रईस के चित्त में स्पर्धा उत्पन्न कर सकता था। मैथिलीशरणजी की पेंचदार पगड़ी में भारी बोल सब समाज के ऊपर था। मेरे उनके परिचय का यह पहला

समय था। वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । इधर उनकी कृपा से उनके और उनके छोटे भाई के सारे उत्तमोत्तम ग्रंथ मुझे पढ़ने के लिए मिले। उनके प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गई है। उनमें अनुपम अध्यवसाय है और अद्वितीय काव्य-कौशल है।

(४)

गोरखपुर-साहित्य-सम्मेलन में जाना था। कानपुर में प्रिंसिपल हीरालाल खन्ना के निकट स्वर्गीय श्री कृष्ण-बलदेव वर्मा ठहरे थे। उनके अनुरोध से साहित्य-सम्मेलन में उपस्थित होना कृष्णबलदेवजी ने स्वीकार कर लिया। हम लोग छोटी गाड़ी से रवाना हुए। लखनऊ में श्री कालीदासजी कपूर भी उसी डब्बे में आगये।

एक आध बार पहले का भी मेरा श्री कृष्णबलदेव जी का परिचय था। उनकी तीव्र मेधाशक्ति का पता मुझे उस समय लग चुका था, जब उन्होंने कानपुर-नागरी-प्रचारिणी-सभा के एक वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व ग्रहण किया था। गोस्वामी तुलसीदास की जयंती मनाई जा रही थी। आपको न-जाने कितने सुंदर-सुंदर पद गोस्वामीजी की कृतियों के स्मरण थे, कि श्रोता मंत्र मुग्ध होकर सुन रहे थे। आप इतिहास ेमी भी थे। बुँदेलखंड के संबंध में आपने

कुछ नई बातें निकाली थीं। वहाँ के कुछ नये कवियों को भी आपने ढूँढ़ा था, जिनका पता अभी तक किसी ने न लगा पाया था।

नागरी-प्रचारिणी-सभावाले आपके भाषण से यह भी ज्ञात हुआ, कि अकबर के संबंध में आपकी एक विशेष धारणा थी। आप उसे एक बड़ा मक्कार और मुसलमान बनानेवाला शासक समझते थे। उसकी प्रत्येक कार्य-प्रणाली को आप स-संदेह सझते थे।

कृष्णबलदेवजी केशव के बड़े भक्त थे। उनको यदि अवकाश मिल जाता और यदि उन्हें कोई सुनता, तो वे उनको गोस्वामीजी और सूर से भी उच्चस्थान दे देते। वे उन्हें जातीय भाव का प्रतिनिधि कवि समझते थे। उनके सहस्रों छंद वर्माजी को कंठस्थ थे।

कानपुर से आगे चलते ही रेल में वर्माजी ने अपना बक्स खोला। उससे उन्होंने एक हस्तलिखित पुस्तक निकाली। उसमें किसी कवि ने आल्हखंड के विषय में से कोई एक प्रसंग छाँटकर अपनी कविता का चमत्कार-प्रदर्शन किया था। यह कोई बुँदेलखंड का ही कवि था। खन्नाजी ने, मैंने तथा हम लोगों के एक और मित्र ने, जो गोरखपुर जा रहे थे, उनके मुँह से उस कवि की ओजस्विनी

वाणी को सुना। वास्तव में वह एक अच्छा कवि था।

इसके समाप्त होने पर हम लोगों की साहित्य-चर्चा होती ही रही। उन्होंने एक बुँदेलखंडी अज्ञातनामा कवि का एक और छंद सुनाया। मुझे आज भी वह स्मरण है।

हम कब कहा कि हमका सिरजौ,
सिरजेउ तोरि बड़ाई आय।
सच पूछो इंसाफ की रूतें,
बंदे तलक खुदाई आय॥

कैसी मीठी चुटकी और ईश्वर के लिये कैसा उपालंभ है? इसी प्रकार और भी छंद उन्होंने सुनाये। फिर केशव की बड़ाई करने लगे। इस संबंध में मैंने उनसे खूब विवाद किया; परंतु मेरे तर्क को स्वीकार करते हुए भी केशव की राष्ट्रीयता और जातीयता की भावना के कारण उन्होंने अपना मत अक्षुण्ण समझा। 'विभीषण' की फटकार के भीतर जो भावना कवि में काम कर रही थी और रामचंद्र के उपालंभ में जो आदर्श कवि के समक्ष था, उसी को वर्माजी सब कुछ समझते थे।

संत कवियों के विषय में उनकी धारणा अच्छी न थी। वे उन्हें कवि मानने को बिलकुल प्रस्तुत न थे।

कबीर के तो वे खास तौर पर प्रतिकूल थे। एक तो उनकी भाषा और दूसरा उनका हिंदू-मुसलमान को मिलाने का प्रयास, दोनों के वर्माजी प्रतिकूल थे। कालिदासजी भी इस विवाद को सुनने आ गये थे। उनकी आयु का रुग्ण व्यक्ति ऊपर के बर्थ पर बैठा-बैठा एक बजे रात तक बहस करता रहे, यह एक असाधारण बात थी। मुसलिम-मेल के पूरे विरोधी थे। उनकी धारणा थी कि परस्पर संघर्ष करके एकही जाति भारतवर्ष में रह सकती है, दूसरी जाति का कोई स्थान नहीं।

हम लोग गोरखपुर पहुँच गए। साहित्य-संमेलन के दूसरे दिन हम लोगों ने निश्चय किया, कि मगहर जाकर कबीर की समाधि देखी जाय। वर्माजी ने एक गहरी साँस लेकर इस प्रस्ताव का समर्थन किया। खन्नाजी ने एक मोटर का प्रबंध किया। आचार्य नरेंद्रदेवजी, प्रिंसिपल खन्ना, वर्माजी, डाक्टर श्रीनिवास और मैं साथ-साथ रवाना हुए। चलते-चलते ही मोटर का पेट्रोल समाप्त हो गया। वर्माजी ने अपने स्मित-व्यंग से कहा—'कबीर की यह पहली सौग़ात है।' लगभग दो मील गोरखपुर से हम लोग चले थे, कि मोटर के नीचे डाकघर का हरकारा दब गया। ड्राइवर गाड़ी भगाए लिए चला गया। हम लोगों ने उसे बहुत रोकने को कहा;

परंतु डर के मारे उसने न रोका। अंत में जब हम लोगों ने उससे यह कहा कि हम लोग तुम्हारे प्रतिकूल गवाही देंगे, तब उसने गाड़ी रोकी। हम लोग कई मील निकल आये थे। मोटर लौटा ली गई। हम लोगों ने देखा कि एक किनारे वही हरकारा पड़ा है और कुछ आदमी पास खड़े हैं। वे लोग हम लोगों को घूर-घूरकर देख रहे थे। मोटर वेग से लौट रही थी। रोकते-रोकते वह एक माइल तक आगे बढ़ गई। फिर जब वह लौटा ली गई, तो हम लोग देखते क्या हैं, कि वही हरकारा डाक लिए हुए, धीरे-धीरे जा रहा था। उसके धूल से लिपटे हुए काले कुरते से धोखा हो ही नहीं सकता था। हम लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और हम लोग मोटर को बगैर रोके हुए आगे बढ़ गये।

वर्माजी ने डब्बी से निकालकर पान खाते हुए कहा—"यह दूसरी सौग़ात है"। मोटर ने एक स्थान पर एक स्त्री को और कुचलते-कुचलते छोड़ा। एक कुत्ते का बच्चा तो बेचारा दबकर मर ही गया। एक बैल का सींग मोटर से टकरा गया। कई चिड़ियाँ उड़-उड़कर मोटर से टकरा कर मर कर गिर गईं। वर्माजी की सौग़ातों की संख्या काफी बढ़ गई थी। हम लोगों को भी कभी ऐसा अवसर

न मिला था। अंत में मगहर से लगभग छः मील की दूरी पर मोटर में पंकचर हो गया। हम सब लोग उतर पड़े।

वर्माजी की आकृति पर मुसकान थी। इस कष्ट में भी उनके मुँह पर विजय की भावना थी। ड्राइवर ने कई बार मोटर सुधारने का प्रयत्न किया; परंतु वह न सुधरी। इतने में दूसरी ओर से आती हुई एक मोटर दिखाई दी। आवाज़ देने पर वह रुकी; परंतु उसने कोई सहायता देना स्वीकार न किया। वर्माजी फिर एक बार हँसे। दूसरी मोटर निकली। उसने खन्नाजी को बैठालना स्वीकार कर लिया था। वे उसमें बैठकर हमारी दुःखद कहानी कहने के लिए गोरखपुर लौट गये।

इधर हम लोगों को भूख लगी। निकट के ग्राम में जाकर हम लोगों ने चने चाबे। नरेंद्रदेवजी, डाक्टर साहब और मैं, तीनों लोग, गाँव गये थे। वर्माजी मोटर के निकट ही खड़े रहे। लौटते समय हम लोग उनके लिए पान लेते आये। यही उनका आधार था। यही उनके लिए सब कुछ था। चौबीस घंटों में वर्माजी केवल एक बार खाते थे।

इस बीच में वर्माजी ने कई रोचक आख्यान सुनाये। उस समय की उनकी भाषण-प्रणाली जिसमें कुछ विनोद

था, कुछ उपहास था और कुछ परिहास था, अब भी स्मरण है । एक-एक शब्द तीव्रस्वर में, परंतु धीरे-धीरे उच्चारण करते थे । वे अधिकतर गले से बोलते थे । उनकी विरल दंतावली पर लाल गहरा रंग झलका करता था । हम सब में अधिक वयवाले होने पर भी हम लोगों से मिले-जुले रहते थे । हम लोगों को कोई भी संकोच अथवा दूरी का भय न रहता था । उनकी अधिक आख्यायिकाएँ यवनों के प्रतिकूल और कबीरदासजी का उपहास उड़ाने वाली थीं ।

खन्नाजी राजा कालाकाँकर की मोटर लेकर आगए । यह सुंदर ब्यूक गाड़ी थी । ड्राइवर भी वयस्क और कार्य-कुशल ज्ञात होता था । इस पर चढ़कर हम लोग मगहर पहुँचे । दुर्भाग्यवश यहाँ भी हिंदुओं की कबीरी समाधि तो खुली थी; परंतु मुसलमानों की कबीरी मज़ार बंद थी । उसका मुल्ला कहीं गया हुआ था । खैर, हम लोगों ने समाधि देखकर ही संतोष किया । वर्माजी ने हँसते-हँसते कहा कि बहुत अच्छा हुआ नहीं तो आज सही-सलामत घर पहुँचना कठिन हो जाता ।

सब लोग हँस दिये । सारे स्थानों का निरीक्षण करके हम लोग लौट पड़े । मार्ग में फिर एक बार मोटर एक

गड्ढे में गिरते-गिरते बची। ड्राइवर बड़ा कुशल था। परंतु हार्न बजाते ही वहाँ के लोगों की एक विचित्र स्थिति हो जाती थी। जिस कोने पर कोई यात्री जा रहा है, उसी कोने पर दब के खड़े होने के स्थान पर वह झट दौड़कर मोटर के आगे से दूसरी ओर भागता था। इसी कारण कई बार कई लोग दबते-दबते बचे। आचार्य नरेंद्रदेवजी ने इसका जो दार्शनिक ज्ञान हम लोगों को समझाया, वह बहुत ऊँचा। मनोवेग का भय स्वरूप जब यात्रियों में सहसा उद्दीप्त हो जाता था, तो वे वेग से भागते थे। अपनी ओर उन्हें अधिक भागने का स्थान किनारा होने के कारण न था। इसीलिये दूसरे किनारे की ओर लपकते थे। नगर के लोग अभ्यस्त होने के कारण इतने भयभीत नहीं होते। अतएव भागने की भावना भी उनकी इतनी उद्दीप्त नहीं होती।

गोरखपुर पहुँचकर मेरे मुँह से निकला, 'भगवान ने आज खूब बचाया।' वर्माजी मुस्करा दिए और कहने लगे—'आपको उस भूत पर क्या वास्तव में विश्वास है।' मैं चुप हो गया। उनकी इस नास्तिक मनोवृत्ति का मुझे और भी कई बार परिचय मिल चुका था।

इसके बाद उनके दर्शन एक बार कानपुर में मेरे स्थान पर हुए। हिंदुस्तानी एकेडमी से केशव-संबंधी कुछ कार्य

संपादन का भार कदाचित उन्हें मिला था । अपनी अस्व-स्थता के कारण यह कार्य वर्माजी मुझसे लेना चाहते थे। मेरे ऊपर उनकी असीम अनुकंपा थी। एक-आध बार पहले भी मुझे उन्होंने अपनी सेवा के योग्य समझा था। केशव-संबंधी सारी योजना हम लोगों ने प्रस्तुत करली थी। कुछ हस्त-लिखित प्रतियाँ भी केशवदास के ग्रंथों की मैंने उनके पास देखीं । यह निश्चय हुआ था कि आगामी जनवरी से मैं उनका कार्य यथाशक्ति कर दूँगा । परंतु उनके सहसा अस्वस्थ हो जाने के कारण और काशी चले जाने के कारण काम स्थगित हो गया । इस संबंध में उन्होंने मुझे कई पत्र लिखे थे और उन्होंने कई हस्त-लिखित प्रतियाँ प्राप्त करली हैं, इसकी भी मुझे सूचना दी थी। परंतु दुर्दैव को कुछ और ही इच्छित था।

इक्का

हिंद-प्रांत के प्रमुख नगरों में इस वाहन से लोग भली प्रकार परिचित हैं। जन-साधारण की मनुहार रखने के लिए ऐश्वर्यशाली वर्ग ने जिस निकम्मी वस्तु को निश्वास के साथ त्यागा है, वह समानांतर युग्म चक्रवाली यही अश्ववाहिनी गंत्री है। दो हाथ लम्बे व्यासवाली काष्ठ-परिधि अपने केंद्र की छोटी लोह-परिधि से काष्ठ-शलाकाओं द्वारा आबद्ध रहती है। ये ही चक्र कहलाते हैं। चक्र-द्वय का आवर्तन एक सशक्त लोह-दंड पर समानांतर स्थिति से हुआ करता है। लोग कहते हैं कि इक्का चलता है। इसी लोहदंड पर धनुपाकार दो शलाकाएँ ऊर्ध्व-मुखी आबद्ध रहती हैं। इनमें भार सम्हालने के लिए लोच

रहता है। समूचा मंच इन्हीं पर रखा रहता है। मंच का आकार, यात्रियों का बोझ तथा छत्र का भार यही लौह-धनुष सहन करता है। मंच पर लगे हुए चारों किनारों पर के चार काष्ठ के खंभों पर ही छत्र आश्रित रहता है। छत्र पर मढ़े हुए वस्त्र की यदि सीवन उधेड़कर उसे पृथक कर दिया जाय तो लोहे के पतले पत्रों के तानेबाने का बना हुआ छत्र-कंकाल दिखाई देने लगेगा। मंच तो पद-विहीन काष्ठपीठ है, जिस पर मोटी गद्दी चढ़ी रहती है। बैठा हुआ बटोही प्रसन्न होता है। जल से, आतप से, प्रकृति के दूसरे उत्पातों से तो छत्र बचाने का प्रयत्न करता है और कर्कश स्पर्श तथा मार्ग के दचके से गद्दी और धनुष सम्हालते हैं।

इक्के को एक एकाकी घोड़ा चलाता है। कदाचित् इसी लिए इस वाहन को इक्का कहते हैं। जिस ढाँचे का वर्णन ऊपर किया गया है, उसका संबंध घोड़े के साथ दो सशक्त काष्ठ-दंड करते हैं। ये लगभग पाँच हाथ लम्बे होते हैं। इनका चिकना स्पर्श घोड़े को प्रतिकूल नहीं मालूम होता। ये इक्के के ढाँचे से समानांतर रूप में आबद्ध होकर अपने बीच में घोड़े को बंदी रखते हैं। घोड़ा चर्म-रज्जुओं में बँधा रहता है। उसके पृष्ठ-भाग पर मोटी चर्मपीठ पड़ी रहती

है। मुख में पड़ी हुई मोटी लोहे की एक कीली दोनों ओर चमड़े की अथवा सूत की लंबी रज्जुओं से बँधी होती है। रज्जु के दूसरे छोर इक्कावान के हाथ में रहते हैं। संचालन, विराम, अवरोध, मार्गांतर, गतिशैथिल्य तथा गतिवेग सबका संकेत अश्व इन्हीं से ग्रहण करता है। सूत्रधार के धीमे से धीमे झटके को पशु पहचानता है और उसकी महीन से महीन ध्वनि पर वह काम करता है।

आज के इक्के अपने पूर्वजों का गर्व नहीं कर सकते। वे अधिक असभ्य, कर्कश और ऐंठू होते थे। उनके दोनों चक्र लौह-परिधि से जड़े होते थे। पुरानी ऊबड़-खाबड़ सड़क पर संघर्ष लेते हुए जब वे इक्के घड़घड़ाहट के साथ भागते थे, तब वाहक और वाहन से बँधी हुई क्षुद्रघंटिकाएँ अपनी टनटनाहट से बड़ी दूर तक के वायुमंडल को हिला देती थीं। 'हटो, बचो' कहने की आवश्यकता ही न रह जाती थी। परंतु नाल जड़े हुए चरमराते चमरौदे जूते की भाँति आजकल इन इक्कों की संख्या बहुत कम हो गई है। बड़े नगरों से प्रायः लुप्त ही हो गए हैं, छोटे नगरों और गाँवों में भी इनकी संख्या विरल हो गई है। घंटियाँ बाँधने की परिपाटी पुरानी समझी जाती है; लौह-परिधि का स्थान अधिक कोमल सुखकर, अमुखर, रबर-परिधि ने ले

लिया है।

इक्के के विकास का इतिहास क्या है, इसका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। अनुमान किया जा सकता है कि रथ के बाद अथवा उसके साथ का सबसे पुराना भारतीय वाहन बैलगाड़ी है। भारवाही पशुओं की पीठ से उतरकर मनुष्य ने जब अपने लिए अधिक सुविधाजनक वाहन आविष्कार किया होगा तो रथ और बैलगाड़ी की सृष्टि हुई होगी। खरारोहन मानवता की वेगवती गति के साथ-साथ न चल सका। खच्चर भी थोड़े काल के पश्चात् धीमे ज्ञात होने लगे। पीठ पर लदे रहने के व्यापार को भी हर घड़ी कष्ट से रिक्त समझना कठिन था। अतएव स्वार्थी चेतना के कारण अश्वों को मुँह में कीलें लेनी पड़ी और बलीवर्दों के नथने छेदे गये। उन्हें पौरुषहीन बनाकर बस में किया गया। बैलगाड़ी के इतिहास में बैल का इक्का कोई पुराना वाहन नहीं है। उसका स्वरूप-निर्धारण दो बैल की गाड़ी के बाद में ही हुआ है। कल्पना यह कहने को उकसाती है कि द्वैतवादी चिंतना के स्थान पर जब अद्वैतवादी भावना की प्रतिष्ठा हुई, तभी से इस भारतवर्ष के धीमे छकड़े—बैल-गाड़ी—का संचालन करनेवाला पशुद्वय भी अद्वैत कर दिया गया। वैसे दो बैल की बैलगाड़ी बहुत प्राचीन है और उसका

आदर्श योद्धाओं का परम प्रिय वाहन रथ ही होगा। घोड़े के इक्के का ऊपरी भाग भी हलके दो चक्रोंवाले रथ के ऊपरी भाग का ही परिवर्तित रूप है। पर रथ-अश्व अकेला कभी नहीं रहता। यही एक विशेष परिवर्तन है।

हिंद-प्रांत में ही इक्के का चलन है। वह भी सर्वत्र नहीं। प्रत्येक बड़े नगर के इक्के अपनी विशेषताएँ रखते हैं। काशी में छत्रहीन इक्के अधिक संख्या में मिलते हैं। स्थानिक अभि-धान-कोष में इन्हें टूँठिया इक्का कहते हैं। इक्के में परि-भ्रमण करनेवाले उत्सवप्रिय भद्र व्यक्तियों का युग अभी काशी में व्यतीत नहीं हुआ। ऊँचा अश्व, आरक्त सूत्रद्वय, झनझनाती हुई क्षुद्रघंटिकाएँ मोटी चक्रवालवाला टूँठिया इक्का किसी भी चौड़े मार्ग पर सरपट दौड़ता हुआ मिल जायगा। संचालक के अतिरिक्त इस पर केवल एक ही व्यक्ति और बैठता है, जो संचालक का भी संचालन करता है। संख्या-वृद्धि के लिए इसमें स्थान ही नहीं होता। रास को बलपूर्वक भरपूर हथेलियों से पकड़े रहने के कारण वे भी लाल हो जाती हैं। जितना ही सशक्त पशु होता है, उतना ही अधिक फेना उसके मुँह से निकलता है और उतना ही अधिक स्वामी का अनुराग सूत्रधार-संचालक की हथेलियों से फूट निकलता है। वह बेचारा कसे हुए लँगोटे के ऊपर

एक लाल अँगौछा बाँधे हुए घोड़े की पूँछ के पास जमा हुआ बैठा रहता है। ऊपरी भाग को अर्द्धनग्न अवस्था से कुछ बचता हुआ एक रेशमी दुपट्टे से आवृत कर लेता है। ललाट पर तेल चूते हुए काले घुँघराले बाल लटकते रहते हैं। विधना के पाटव पर एक लाल बिंदु और पैर पर बनारसी जूते उसकी वेश-भूषा को अन्य नगरों के इक्केवालों से बिल-कुल पृथक् कर देते हैं।

इस टूँठिये इक्के की सवारी बहुधा बार्निश-पंप का काला जूता और बहुमूल्य महीन धोती के ऊपर झिलमिल बनियाइन को आधा प्रकट करता हुआ और आधा छिपाता तनज़ेब का कुरता पहने रहती है। रोली का गोल टीका, बनारसी कढ़ी हुई टोपी और बनारसी दुपट्टा भी अवश्य होता है। कभी दशाश्वमेघ घाट पर गंगा मैया के दर्शन, कभी विश्वनाथ बाबा के दरबार की उपस्थिति, कभी अनमने मन यो बहलाने का प्रयोजन, कभी इक्कों की दौड़ का निरीक्षण और कभी केवल सैरसपाटा और हवाख़ोरी, ये ही कारण कभी एक, कभी कई और कभी सब मिल जाते हैं और टूँठिये इक्कों की चाल की परीक्षा होती है। 'हट जाओ, दब जाओ' नागरिक इक्केवालों की साधारण

उक्तियाँ हैं। वैसे तो ऐसे-वैसे व्यक्ति को देखकर यह भी कहते सुने गये हैं—'मरबो का ?' 'जान देबो का ?' 'सरवा सुनत नाहीं।'

ठूँठिया इक्कों के अतिरिक्त काशी में छतरीदार इक्के भी हैं, जो यात्रियों को टके-टके में इधर-उधर पहुँचाया करते हैं। मरियल घोड़ा और अड़ियल स्वभाव, सड़ियल गद्दी, दुर्गंधपूर्ण इक्कावान, टूटा साज, बुझ-बुझ जाने वाले लैंप, हिलता हुआ ढाँचा और हदके से चरमरा जाने वाले पहिये, ऐसी विभूतिवाले इक्के किस नगर की शोभा नहीं हैं ? वर्ष भर में दो-तीन बार इनका निरीक्षण होता है। वार्षिक कर के बराबर ही निरीक्षकों के घर यदि पहुँच जाय तो फिर कौन पूछनेवाला है ? म्युनिसिपैल्टी के इस विभाग के कर्मचारियों से किराया माँगना भी प्रत्येक इक्केवान के लिए सरल नहीं। उत्कोच की छाया में चलनेवाले इक्के जनसाधारण के ही काम अधिक आते हैं। कम पैसे में पट जाते हैं।

मिर्ज़ापुर की बात यदि छोड़ दी जाय तो इक्कों का दूसरा केंद्र प्रयागराज है। यहाँ भी इक्कों का प्रेम है। पर केवल पंडों में। उनके पास 'जानदार' घोड़े हैं। कुछ ठूंठिये भी हैं। धनी होने पर भी ये इक्कों ही का प्रयोग करते हैं। भाँग-बूटी छानकर और कभी ठंढाई का सामान

साथ लेकर अपने-अपने इक्कों पर ही ये लोग निकलते हैं। भूसी और नैनी तो इनके पाँव तले रहते हैं। इसी लंबे मार्ग में दौड़ भी होती है। दौड़ में टूँठिया की उपयोगिता सबसे अधिक रहती है। वह उलटता नहीं।

प्रयाग के साधारण इक्के काशी के साधारण इक्कों से कुछ अच्छे होते हैं। अँगरेज़ी शिक्षितों की अधिकता के कारण इक्का पूरी तरह से केवल जनसाधारण के उपयोग में आता है। त्रिवेणी-स्थान का ऐसा प्रबल आकर्षण है कि सभी इक्के अपनी आजीविका उपलब्ध कर लेते हैं। प्रयाग का इक्का सुंदर नहीं कहा जा सकता। इक्कावान भी अधिकतर दरिद्र ही दिखाई देता है। वह परस्पर चढ़ा-ऊपरी करता है, पर गुंडा नहीं होता। पदातियों से उसका व्यवहार भी अशिष्ट नहीं होता। सावधानतासूचक सम्बोधन भी लगनेवाले नहीं होते। उपहास, व्यंग, उपालंभ और तिरस्कार की कोई स्पष्ट अभिव्यक्ति उनमें नहीं मिलती। इलाहाबादी इक्कावान गाते हुए इक्का नहीं चलाता। वह अपने कनपुरिये भाई-बंदों की भाँति सिगरेट, बीड़ी, कोकीन और ताड़ी का आदी नहीं होता। वह टाकीज़ के व्यसनी, रेल के यात्री, भरद्वाज आश्रम के दर्शक, अक्षय-वट के पुजारी, हाईकोर्ट के रोगी, त्रिवेणी के भक्त, विश्व-

विद्यालय के निर्धन विद्यार्थी तथा स्वराज्य भवन के अतिथि—इन सबको भली प्रकार पहचानता है।

रेल से उतरनेवाले यात्रियों को प्रयाग में कई स्वागतों को झेलना पड़ता है। उतरते ही कृष्णवस्त्राभूषित भारवाहकगण ललकते हुए नेत्रों से सामान ढूँढने लगते हैं। कभी-कभी एक गठरी के लिये बोझ से झुके हुए होने पर भी धक्का-मुक्की करते हैं। यात्री को कुछ भलामानुस देख कर होटलवाला धीरे से अपने यहाँ ठहरने के लिये कान में प्रार्थना करता है। उसे निराश करके टिकट बाबू को अपनी अस्तेय साधना का परिचय देता हुआ यात्री ज्यों ही स्टेशन के बाहर आता है, इक्केवान उसे घेर लेते हैं। यदि यात्री की वेश-भूषा साधारण हुई तो ताँगेवाले दूर खड़े रहते हैं, अन्यथा इक्केवानों के टकों पर उनकी भी टकटकी लगी रहती है। संघर्ष अधिकतर इक्कों में ही होता है। यात्री बैठा नहीं कि 'टिक-टिक' का शब्द सुनाई दिया और घोड़े ने रेंगना आरम्भ कर दिया। प्रयाग नगर के व्यस्त मार्ग लखनऊ अथवा कानपुर के मार्गों की भाँति अच्छे नहीं हैं, फिर भी काशी के मार्गों से अच्छे ही हैं। इसी कारण गति-वैषम्य भी दिखाई देता है।

फ़तेहपुर ग्राम का उल्लेख कोई विशेष महत्त्व नहीं

रखता। वहाँ के इक्कों में प्राचीनता अभी तक विद्यमान है। खड़खड़ाहट उनका साथ अभी तक नहीं छोड़े हैं। फ़तेहपुर नगर में उनका उतना उपयोग नहीं होता, जितना आस-पास के उपनगरों और ग्रामों के यातायात के लिए। यहाँ के इक्के केवल व्यावसायिक ही हैं। उनके अश्व छोटे, पुष्टकाय, तेज़ और परिश्रमशील होते हैं। इक्के भी खड़-खड़ाते अवश्य हैं, पर सशक्त होते हैं। ऊबड़-खाबड़ कच्ची-पक्की सड़कों और गलियों में वे बेरोक-टोक चलते चले जाते हैं।

इक्कों की यदि अनेकरूपता देखनी है तो कानपुर नगर के इक्कों को देखना चाहिए। उनकी छोटी-सी दुनिया नगर के कोलाहल में अपना मुखर अस्तित्व रखती हैं। आकारलघुता और स्वरूपदीर्घता, रूपरेखा की समता और प्रकार-विभिन्नता, एकवर्णप्रधानता और अनेक-वर्णसांकर्य यह तो मिलता ही है, साथ ही साथ अत्यंत स्वच्छ आवरण-वस्त्र के धवलित तथा अत्यंत दुर्गंधपूर्ण आवरण-वस्त्र से मलिन, क्वणनशील अनेक उपकरणों से युक्त तथा अश्वपदाघातजन्य शब्द के अतिरिक्त पूर्णरूपेण निश्शब्द, छत्रदार तथा अछत्री, सब प्रकार के इक्के इसी सटी बस्ती में मिलेंगे। यहाँ ऐसे इक्के भी मिलेंगे, जो

अपनी जाति की सच्ची संतान प्रतीत होते हैं और ऐसे भी मिलेंगे, जो स्पष्ट वर्णसंकर ज्ञात होते हैं। इक्का-ताँगा, इक्का-फिटन, इक्का-टमटम इस प्रकार की जारज संतति दूर से ही मालूम हो जाती है। कहीं नाटा आकार और चौड़ा फैलाव ताँगे की उनहार प्रकट करता है; कहीं पतली तीलियों के चक्रद्वय में फिटन की प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई देती है और कहीं अश्व के उभय ओरवाले क्षीण-काय परंतु पुष्ट लौहदंडों में टमटम का उत्तराधिकार परि-लक्षित होता है।

वाहन की भाँति वाहक पशु भी न-जाने कितने प्रकार के होते हैं। नाटे किंतु सशक्त, अपने वित्त से अधिक चलनेवाले छोटी, 'इकिया' को लेकर हवा हो जानेवाले अश्व भी देखे जाते हैं; और लम्बे-चौड़े इक्के के साथ खूँ-दते हुए दर्प से चलनेवाले बड़े घोड़े भी दिखाई देते हैं। लाल, काले, उज्ज्वल, चितकबरे, बादामी, गेंहुए और न-जाने कितने रंग के मेलवाले घोड़े मिलेंगे। परंतु जिन लीचड़ इक्कों की भरमार है, उनमें गेहुँए रंगवाले अथवा ईषत् बादामी रंगवाले घोड़े ही प्रायः दिखाई देते हैं।

कानपुर के इक्के साधारणतया दो वर्गों के मिलेंगे। कुछ इक्के तो धनिकों की रुचि-साधना की सृष्टि हैं। कुछ

धनी लोग मोटर रखने के स्थान पर इक्का रखना अधिक अच्छा समझते हैं। इनकी यह रुचि केवल परंपरा-पालन-विधायिनी है। पूर्वज लोग जिस साधारण वाहन का प्रयोग कर रहे थे, उससे ऊँचा वाहन, अधिक धनी होकर भी, इनके लिए काम में लाना अधर्म है। कृपणता का उतना प्रभाव नहीं है, जितना दोष अनुदार अपरिवर्तनशील बुद्धि का है। यदि नये प्रकाशवाले पुत्रों के कारण घर में मोटर आ भी गई तो भी दादा इक्के ही पर चढ़ेंगे। 'तीन प्राणियों को पालने का पुण्य मुझे मिलता है'—यह उक्ति बात-बात में सुनावेंगे। "अश्व, अश्वसंचालक और अश्व-सेवक सभी मुझे और मेरी संतान को आशीर्वाद देते हैं।"

यदि किसी घर में नवीनता ने प्राचीनता को पूर्ण रूप से अपदस्थ कर दिया है और घर का इक्का हटा ही दिया गया तो भी प्राचीन लीक के पुजारी बूढ़े लालाजी मोटर पर न चढ़कर साधारण सड़ियल इक्के ही पर बाहर निकलेंगे। कानपुर के ऐसे लक्षाधिपों को मैं जानता हूँ जो मोटर रहते हुए भी इक्कों पर ही चढ़ना अपना गौरव समझते हैं। कालेजों और स्कूलों को लाखों रुपये देनेवाले लाला भी मैली मिरजई, घुटनों के ऊपर चढ़ी हुई धूमिल धोती, कई गंधों की दुर्गंधवाला अँगोछा लेकर नितांत

साधारण इक्के पर चढ़कर प्रतिदिन गंगास्नान को जाया करते थे। प्राचीन परिपाटी के संरक्षकों के पास जो इक्के-घोड़े हैं भी, उनमें कोई विशेषता नहीं। जैसे घर की और सब बातें वैसे ये भी चला करते हैं।

दूसरे प्रकार के महाजनी इक्के उन महानुभावों के पास हैं, जो इक्केबाज हैं। महाजनी इक्कों से अभिप्राय उन इक्कों से है, जो किराये पर नहीं चलते। कानपुर में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत न्यून नहीं, जो इक्के के बड़े प्रेमी हैं। उनके पास मोटरें भी हैं तथा और-और वाहन भी, पर समय निकालकर वे जब तक इक्के पर नहीं घूम लेते, उनका चित्त शांत नहीं होता। पास बैठे हुए व्यक्ति से कभी अपने घोड़े की 'दुलकी', कभी 'रवाल', कभी 'सरपट' भाग की प्रशंसा करते रहेंगे। मार्ग में घोड़ेवाले जितने वाहन मिलेंगे, उनसे आगे अपना इक्का निकालना इनका कर्तव्य है। यदि दैवयोग से इनका घोड़ा किसी दिन भी 'नरम' पड़ा तो मकनपुर के मेले तक इक्का न दिखाई देगा और जब सबसे बढ़िया दूसरा घोड़ा आ जायगा तो तनकर बैठे हुए 'मालिक' को लेकर 'दून' की हाँकता हुआ इक्कावान घोड़े की रास कसकर पकड़े हुए परिचित मार्गों में फिर दिखाई देगा।

इन महाजनी इक्कों के घोड़े बड़े सजे-बजे रहते हैं। अच्छे से अच्छा मूल्यवान् साज इनके ऊपर रक्खा रहता है। उसकी पीतल चमचम चमकती है। इक्के में सावधान घोषणा के लिए घंटी लगी रहती है। गद्दी के कपड़े प्रतिदिन बदले जाते हैं। इक्कवान या तो 'ग़नी' या 'इलाही' होता है। 'कल्लू' और 'महँगू' तक काम चल जाता है; परंतु 'बिहारी' या 'शिवदीन' इस काम के लिए उपयुक्त कम होते हैं। इन महाजनी इक्कों की संख्या अब विरल हो रही है। प्राचीन परंपरावादी लालाओं के साथ-साथ पहले प्रकार के इक्के तो समाप्त ही हो रहे हैं, दूसरे प्रकार के इक्के भी बिगड़ैल धनिक इक्काबाज़ों की रुचि-परिवर्तन के साथ कम हो रहे हैं। कबूतरबाज़ी, पतंगबाज़ी, बटेर-बाज़ी, कोकीनबाज़ी की भाँति इक्काबाज़ी भी जनमत की स्वीकृति अब उतनी नहीं पाती। इक्कों के स्थान मोटरें ले रही हैं, ठीक उसी प्रकार कोकीन, भाँग, चंडू का स्थान शराब ले रही है।

कानपुर में इक्केवालों का एक तीसरा वर्ग भी है। कुछ इक्के आधे महाजनी और आधे किरायेवाले हैं। कुछ लोगों को इक्का अपने व्यवसाय के लिए परमावश्यक है, पर वह उसका पूरा व्यय सहन नहीं कर सकते।

अतएव किसी के यहाँ गंगास्नान के लिए अथवा बालकों को स्कूल पहुँचाने के लिए उसका प्रयोग कर लिया जाता है और उससे उसका व्यय निकल आता है। ये इक्के स्वच्छ और सुंदर दिखाई देते हैं। कभी-कभी एक के स्थान पर दो इक्के बना लिये जाते हैं। एक पूरी तरह से किराये पर ही चलता है और दूसरा स्वामी के काम में रहता है। दोनों का व्यय निकलता रहता है। बड़ा घोड़ा खाता अधिक है अतएव पुष्ट और द्रुतगामी होता है; छोटा घोड़ा छोटी इक्किया के साथ महाजनी बना लिया जाता है। लोग सिकुड़-सिकुड़ाकर, दिल में कसमसाते हुए प्रेमी के अरमानों की भाँति, बैठे रहते हैं।

किराये के इक्के भी दो प्रकार के देखे जाते हैं। कुछ तो बहुत ही अच्छे, ऊँचे घोड़े वाले, स्वच्छ गद्दी और दूर से सुनाई देनेवाले घंटों से सुसज्जित और कुछ नितांत फूहड़ शुद्ध किराये के लिए। पहले प्रकार के इक्के बहुत थोड़ा परिश्रम करते हैं और भरपूर पारिश्रमिक लेते हैं। ये अपने संरक्षकों को दूर से पहचान लेते हैं। उनसे मोल-तोल नहीं करते। संतोषप्रद मज़दूरी काम करने के बाद मिल जाती है। यदि दूसरे लोग इन्हें कहीं टोकदें तो उनकी ओर नेत्रछोर ही न करेंगे और उत्तर भी यदि

देंगे तो बड़े उदासीन भाव से, जैसे कंचनमृग खोज रहे हों और यदि देखेंगे तो भी अशिष्ट और अनागरिक मुद्रा से। शिष्टता और नागरिकता से वे नितांत परिचित हैं, पर उसका प्रयोग वे केवल अपने चुने हुए ग्राहकों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। पारिश्रमिक की दर वे स्वयं तय करते हैं। म्यूनिसिपल बोर्ड की दर की तो वे हँसी उड़ाते हैं। वे घूमते रहेंगे, पर कम न लेंगे। सिंह भूखों मर जायगा, पर घास न खायगा। यदि कहीं उभय पक्ष के भ्रम के कारण पहले से विना निश्चय किये हुए कोई यात्री किसी इक्के पर बैठ गया तो इक्केवान की बन आई। बाद में मनमाना माँगता है। नंगेपन पर उतारू हो जाता है। बेचारे यात्री को प्राण बचाना कठिन हो जाता है।

इन इक्कों के सबसे सरल ग्राहक धनिकों की बिगड़ैल संतान हैं। पूर्वपुरुषों द्वारा कसकर कोठरी में बंद की हुई लक्ष्मी जब झाँक-झाँककर बाहर निकल आती है और प्राचीन स्थान को, गिरते हुए पुराने घर की तरह, छोड़ने पर तुल जाती है, तब ऐसी संतान उत्पन्न होती है। इक्केवाला चुपके से उन्हें बिठाकर लगाम ढीली करके घोड़े को वेग के साथ उड़ाता हुआ कोठों-कोठों की यात्रा

कराया करता है। मज़दूरी भरपूर मिलती है।

इन इक्कों के दूसरे प्रकार के ग्राहक चोर, लुच्चे और गुंडे होते हैं। किसी को ठगकर भागना हुआ, किसी की बहू-बेटी को उड़ाना हुआ, किसी भोले यात्री को फँसाना हुआ, कहीं भारी घमासान करना हुआ, कहीं पुलिस के वारंट से भागना हुआ तो यही इक्के बुलाये जाते हैं। जिस प्रकार इनका प्रयोजन पाप के लिए होता है, उसी प्रकार पुण्य के लिए भी होता है। तपेश्वरी मय्या, आनंदेश्वर बाबा, जाजमऊ के अधीश्वर, गंगा महारानी, जागेश्वर महाराज, खेरेपति स्वामी, कहीं भी जुआरियों, चोरों और बिहाड़ों को जाना होगा तो यही इक्के बुलाये जायँगे। इन लोगों में और इक्केवालों में बिरादरी का भाईचारा रहता है। नगर के ऐसे स्थान, जिनका सौंदर्य रात के दस बजने के पश्चात् आरम्भ होता है, इन इक्कों के अड्डे हैं। एक छैला को बिठाये किसी पानवाले की दूकान पर सींक पर रक्खी हुई सफ़ेद ओषधि को पान में रखने के लिए खड़े मिलेंगे। इक्कावान पैर थपथपाते हुए घोड़े पर एक हाथ से थपकी देता हुआ दिखाई देगा और दूसरे हाथ मे सूत्रद्वय को पकड़े रहेगा। इक्कारोही

पानवाले के सामने प्रसारितकर होता हुआ भी ऊर्ध्वदृष्टि ही रहेगा।

कानपुर नगर की रक्षा के लिए एक नई धारा का निर्माण हुआ है। उत्पात करनेवाले धूम्रकेतु या तो छिप गये या कुछ काल के लिए बहिष्कृत कर दिये गये। इसके पूर्व किसी भी सायंकाल को एक साँवला भारी-सा पुष्टकाय व्यक्ति सरसैयाघाट की ओर वेग से भागते हुए अच्छे इक्के की एक ओर बैठा दिखाई दिया करता था। यह काला बार्निश का जूता पहने उसी प्रकार को चमकती हुई काले मखमली किनारे की धोती कसे हुए तना बैठा रहता था। धोती के दो फेंटे कटि में बाँधने के कारण उसे घुटनों तक पहुँचने का अवकाश कठिनता से मिलता था। जंघों पर एक मोटी लम्बी लाठी, जिसका एक छोर मोटे लौह गुल्म से गठित था, शरीर पर चिकन का महीन कुरता, सिर पर लखनवी पल्ले की टोपी-यह उसका पहनावा था। इसे वायुवेग से इक्के पर जाते देखकर कोई कहता—'भइये राम राम।' कोई कहता—'गुरू, पायलागन।' यह भी कुछ न कुछ कहता चलता। 'मौज करो बेटे', 'जीता रह मेरा भइया।'

चलते-चलते किसी से पूछने लगता, 'क्या रंगत है महतो?' किसी से कह उठता, 'क्यों बे, कल आया क्यों

नहीं ?' पर इक्का एक क्षण के लिये भी नहीं रुकता। कड़ी पृथ्वी पर घोड़े के पदाघात का शब्द निरंतर सुनाई देता। पहलवान के रक्ताभ नेत्रों से निडर कुछ मुँह लगे छोकरे यहाँ तक कह डालते, 'वड़े नकसे हैं गुरू', 'कसे रह वरेक गुरू।' वैठा हुआ सिंह मुसकराकर दूसरी ओर देखने लगता। भर्राई हुई वाणी से इक्कावान कह उठता, 'सामने से हटता क्यों नहीं है ?'

आततायियों का व्यवसाय क्षीण हो गया है और प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है। अतएव इस प्रकार के इक्के भी कम हो रहे हैं। अब तो केवल शुद्ध किराये का इक्का अधिक देखने में आता है। इसकी संख्या कानपुर में वहुत है। नगर की जनता का यही एक वाहन है। इसका किराया और उसकी आय का मेल है। इक्के का स्वामी कभी-कभी स्वयं ही इक्कावान भी वन जाता है और कभी-कभी इस काम के लिए एक अलग सेवक रखता है। पर इक्कों को किराये पर चलाने का व्यवसाय सवसे नहीं सपरता। यदि किसी अनजान व्यक्ति ने दो-चार सहस्र रुपये फँसाकर इक्कों को किराये पर चलाना आरम्भ भी कर दिया तो उसकी वुरी गति होती है।

वुद्धू कहता है—'मालिक, घोड़े ने वम तोड़ दिया

है, लगवा दीजिए।

कल्लू कहता है—'नालों की बदली जल्दी होनी चाहिए।'

महमद कहता है—'भइया, गद्दी फिर से बननी चाहिए।'

इलाही कहता है—'घोड़े ने साज की जोत तोड़ दी है, उसे बदलवाना है। रासें भी लगे हाथ बदल जायँ तो अच्छा है। सरकार के बड़े नाम हैं।'

सेवकों की ये माँगें कहाँ तक सुनी जायँ। कहीं यह टूटा कहीं वह टूटा। कहीं घोड़ा बीमार, कहीं उसकी पीठ लगने लगी, कहीं पैर लंग करता है तो कहीं रबर निकल-निकल जाता है। बस, ये ही बातें सायंकाल सुनने और देखने को मिलती हैं। मज़दूरी के नाम पर लगभग सभी के मुँह से यही निकलता है, 'सरकार! आज न-जाने किस कम्बख़्त का मुँह देखा कि अड्डे पर खड़े-खड़े दिन ख़तम हो गया। यह चवन्नी अभी-अभी मिली है। इसमें क्या सरकार को दें और क्या घोड़े को खिलावें?' अभिप्राय यह कि इक्का घिसता और रद्दी होता जायगा घोड़ा बूढ़ा और लद्धड़ होता जायगा और उसकी आमदनी कुछ वृत्ति के रूप में और कुछ घोड़े के नाम से

उन्हीं सेवकों के पास पहुँच जायगी। किसी भी दिन मधु निचोड़े हुए मधुमक्खी के छत्ते की भाँति अस्थिकंकाल और जर्जर इक्का स्वामी के द्वार के सामने खड़ा हुआ दिखाई देगा और सेवक का पता न होगा। यदि हार मान कर स्वामी ने इन इक्कों को अलग कर दिया तो यही नौकर ले लेंगे और उसी दिन से इक्का ठीक-ठीक चलने लगेगा। इक्के किराये पर चलाने का व्यवसाय कोई कुशल व्यक्ति ही कर सकता है, जिसे इन नौकरों के मनोभाव का पूरा परिचय हो।

कानपुर के किरायेवाले ये इक्के अजायबघर में संग्रह करने की वस्तु हैं। वैचित्र्य के दैनिक साहचर्य से अद्भुत की उत्पत्ति नहीं होती, पर यदि कोई सीधे विदेश से आया हुआ व्यक्ति इन इक्कों को देखे तो आश्चर्य में अवश्य पड़ जायगा। छोटा अथवा मँझोला टट्टू उतने ही पैर आगे रखता है, जितने कशाघात उस पर होते हैं। टूटा हुआ साज धोती के किनारों से अथवा थान के टुकड़ों से किसी न किसी प्रकार कसा रहता है। फिर भी ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब इक्कावान उतरकर उसे कसता है। घोड़ा कहीं पाँव से लँगड़ाता है, कहीं पीठ कट जाने के कारण रुक-रुक कर त्वचा-संकोच करता है। दो-चार बार मल-

मूत्र विसर्जन करता है और एकाध बार पानी पीता है। हिनहिनानें की उसमें शक्ति नहीं। भागना अथवा चौंककर कान खड़े करना उसकी जाति का लक्षण नहीं। अग्नि बुझानेवाला अथवा मार्ग कूटने वाला इंजन, घंटी बजाता हुआ हाथी, उद्ग्रीव ऊँट ये तो प्रतिदिन के साधारण दृश्य हैं, वैसे भी इस घोड़े में विश्व की कोई भी अलौकिक घटना या मूर्ति को देख कर भड़कने के लिए जान नहीं है। हाँ, स्थान-स्थान के चौराहों और इक्कों के अड्डों पर अड़ जाना इसका प्रमुख लक्षण है।

जिस समय भरपूर सामान के साथ पूरी सवारियाँ इस इक्के पर हचककर बैठती हैं, यह चरमरा जाता है। घोड़ा खच्चरी सीधेपन के साथ खड़ा रहता है। गूदड़ों की गद्दी पर चीथड़े पहने हुए यात्रियों को बिठाकर कंथाधारी इक्कावान टिक-टिक करते हुए इक्के को हाँकता है। कहीं भूला-भटका सफ़ेदपोश यात्री भाग्य का मारा इस इक्के पर बैठ गया और उसे इक्केवान के पार्श्व पर स्थान मिला तो इक्केवान का पसीना और घोड़े की बार-बार निस्सृत अपान-वायु के कारण वह अपनी नासिका से अपने कर-वस्त्र को एक क्षण के लिए भी हटा नहीं सकता। इक्कावान यात्रियों की मनुहार ताड़ा करता है। यदि किसी ने गति-

शैथिल्य की ओर साधारण संकेत भी किया तो कशा वर्षा वेग से बढ़ जाती है। यदि इससे भी कोई परिवर्तन न हुआ तो वह कहने लगता है—

"हुज़ूर नौकर ने इस घोड़ी का सत्यानाश मार दिया। लाख टके की घोड़ी थी। हवा से बातें करती थी। एक ज़माना था कि इसे दस सेर दाना मिलता था। घी भी दिया जाता था। मगर मुआफ़ कीजिये, उस वक़्त सवारी भी सख़ीदिल आया करती थीं। थोड़ा घूमे और एक रुपया फेंक दिया। अब मुफ़लिसी तबाह किये है। आप ही क्या करें।"

बातों की झोंक में मार्ग कट जाता। यात्री बेचारे चुप हो जाते। घड़ी की टिकटिक की समता करता हुआ इक्का आगे बढ़ता जाता। यात्री यदि कहीं साधारण कोटि के व्यक्ति हुए और उन्होंने धीमी चाल के लिए कुछ कहा तो इक्कावान झट बिगड़कर कहने लगता है, "ऐसी जल्दी थी तो मोटर पर चढ़ते। यह तो जानवर है, मन से ही चलेगा। पंख थोड़े ही इसके लगे हैं। दोगे तो तीन ही पैसे। जैसा गुड़ डालोगे वैसा मीठा होगा।"

इतना कहकर प्रत्युत्तर को अवकाश न देते हुए सामने के पैदल यात्रियों पर बिगड़ जायगा। उनकी तनिक भी

असावधानी से उनके कुटुम्ब से अपना नाता जोड़ने लगेगा । इस प्रकार अपशब्द कहते और अपशब्द सुनते आगे बढ़ता जायगा । ठेलेवालों से तो इसका सहज वैर है । उनके साथ की हँकरा-तुकरी तो प्रतिदिन की विशेषता है ।

कानपुर के इन इक्कों का इक्कवान जिह्वा का बड़ा गति-सम्पन्न है । परंतु वह गति अधोगामिनी है । उसके हटो, बचो, सावधानी-सूचक संबोधनों में 'अंधा' 'बेवकूफ़' से लेकर अश्लील से अश्लील अपशब्दों का प्रयोग किया जा सकता है । उसके पास न मान है और न वह दूसरे की मान-रक्षा से वास्ता रखता है । उसके वस्त्र केवल ईद-बकरीद में परिवर्तित होते हैं । उन्हीं दिनों ख़ाँ साहब, सैयद साहब, बड़े मियाँ, हाजीजी कहकर लोग इन्हें पुकारते हैं । साटन की तहमत अथवा तीन किनारे की मख़मली पाड़ की तहमतनुमा धोती, चौड़ी तड़कीली धारीदार रेशम का घुटनों तक लंबा कुरता, काला वार्निश का जूता न सही तो काला रबर का जापानी जूता, तुर्की टोपी, भद्दर गर्मी में भी ग्रीवा गुलूबंद से परिवेष्टित, पैर में मोज़े, ऊपरी जेब के ऊपर निकला हुआ रंग-बिरंगी अतर छिड़का हुआ रेशमी रूमाल, यदि कोट हुआ तो रेशमी

मफ़लर, यह इनकी त्योहारी सजावट है। बच्चों की-सी वस्त्र-संबंधी रुचि और गुंडों की-सी व्यवहार-संबंधी प्रेरणा इनकी विशेषताएँ हैं। यदि हिंदू हुए तो भी वही बात। हाँ, वस्त्र का चयन दूसरे प्रकार का होगा और केवल होली के समय उसकी आवश्यकता पड़ेगी।

लखनऊ के इक्केवान अधिक शिष्ट और मिष्टभाषी हैं। 'हुजूर' और 'सरकार' का प्रयोग उनके लिए साधारण है। बेचारे पदातियों को दबा देने की धमकी भी ये नहीं देते। पर लखनऊ में इक्केबाज़ी की रुचि बिलकुल नहीं है। यही कारण है कि यहाँ अच्छे इक्के नहीं मिलते। नवाबों और अवध के रईसों ने इस वाहन को कभी नहीं अपनाया, अन्यथा बटेर, बुल-बुल, तीतर, पतंग, कबूतर की व्याख्या की भाँति इसकी भी व्याख्या मिलती, अन्यत्र न सही तो चंडूखाने में तो अवश्य मिलती।

अभद्रता, कुरूपता, मलिनता तथा अलसगति में लखनऊ के इक्के शुद्ध किरायेवाले कानपुर के इक्कों के ही कुटुम्बी हैं। नगर-विस्तार के अनुसार इनकी उपादेयता अधिक है, अतएव इनकी संख्या भी अधिक है। लखनऊ में ऐसे इक्केवान भी हैं, जो अपना वंश सीधे प्राचीन नवाब शासकों से जोड़ते हैं। दो-चार पाई वृत्ति भी मिलती है। दूसरे इक्केवालों के बीच में वक्षःस्थल उठाकर

चलने के लिए यह पर्याप्त है। गंगा-स्नान न नसीब होनेवाले व्यक्ति घर के पंप में स्नान करके उसकी पतली जलधार को ही गंगोदक के नाते कूपजलस्नान करनेवाले ग्रामीणों के समक्ष डींग मारते हैं। नवाबों के राजकुटुंब के साथ अपना संबंध दिखाते हुए भी ये इक्केवाले अमीनाबाद, बनारसी बाग़, हज़रतगंज, चौक, नाकाहिंडोला, नखास, चारबाग़ स्टेशन, कैसरबाग़, बारादरी, युनिवर्सिटी, बड़ा अस्पताल, कौंसिल-भवन इत्यादि-इत्यादि स्थानों के लिए दो-दो पैसों में यात्रियों को ढूँढा करते हैं।

बड़े नगरों के अतिरिक्त छोटे-छोटे उपनगरों में भी इक्कों की बड़ी चाल है। उन्नाव में इक्कों की संख्या कम नहीं है। शफ़ीपुर, रंजीतपुरवा, मौरावाँ तक आसपास के ग्रामों और तहसीलों को लेकर न-जाने कितने इक्के आते-जाते रहते हैं। मौरावाँ और उन्नाव के बीच पहले इक्कों की खूब दौड़ होती थी, परंतु मोटरबसों ने यह होड़ समाप्त कर दी। फ़तेहगढ़ के साधु लोग इक्कों के विशेष प्रेमी हैं। ये लोग धनी भी हैं और व्यापार-कुशल भी। बड़े-बड़े चौड़े इक्के और ऊँचे-ऊँचे घोड़े इनको बहुत प्रिय हैं। इसी प्रकार हिंद प्रांत के और स्थानों में भी इक्कों के केंद्र हैं और उनकी अपनी निजी विशेषताएँ हैं।

नगर के इक्केवानों और ग्राम के इक्केवानों में बड़ा अंतर है। ग्राम के इक्केवान ग्राम के अन्य निवासियों की ही भाँति हैं, पर नगर के इक्केवानों का एक विशिष्ट वर्ग ही नहीं, वरन् एक पृथक् जाति निश्चित हो गई है। उनके प्रत्येक व्यवहार में विलगाव है। उनके गाने पृथक् हैं, उनकी ध्वनि और उनके राग भिन्न हैं। उनकी संभाषण-प्रणाली पृथक् है। भोजन, वस्त्र, आमोद, प्रमोद सब निराले हैं। बहुधा लोग कहते हुए सुने गए हैं कि क्या इक्केवालों का राग अलापने लगे? क्या इक्केवालों की-सी गालियाँ देते हो? नई-नई ठुमरियाँ और ग़ज़लें आया और जाया करती हैं। थोड़े दिनों तक सरदी में इक्का हाँकने-वालों के मुँह पर एक गान रहता है और फिर दूसरा आ जाता है। चाहे 'टाकी' के चवन्नीवाले स्थान देखिए, चाहे चायवालों की प्यालियों पर, चाहे गाँजा-भाँग के ठेके पर, चाहे ताड़ी वाले की दूकान पर, बीड़ी मुँह में दाबे हुए इक्केवाला दूर से ही पहचाना जा सकता है। कांतिहीन, पीले-पीले नेत्र, मलिन दुर्गंधपूर्ण वस्त्र, फटा हुआ शिरवस्त्र, हाथ और उँगलियों में लगे हुए चिलम पीने के पीले-पीले चिह्न, सूखे केश, शरीर की प्रत्येक अंग-संधि पर लगा हुआ मल, बड़े और काले नख, सूखी झुर्रियोंवाली आकृति,

प्रत्येक इक्केवाले की पहचान है । दो-एक बार के लम्बे अथवा छोटे कारावास की लम्बी-चौड़ी बातें यदि वह सुना सकता है तो अपनी जाति में उसका सम्मान और अधिक होता है ।

इक्कों की संख्या उत्तरोत्तर घट रही है अथवा बढ़ रही है, यह ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता । पर इक्के का अन्य वाहनों से एक महान् संघर्ष चल रहा है । तारकोल से सँवारी हुई अथवा कांक्रीट-सीमेंट की चिकनी तारकोल-सड़कों ने चिकनी नालवाले घोड़ों के लिए रपट-कर गिरना सरल कर दिया है । किसी बड़े नगर की भी सड़क पर किसी दिन रपटकर अस्त-व्यस्त लेटा हुआ मरियल घोड़ा दिन-भर के भारी परिश्रम से अपने लिए अवकाश की व्यवस्था निकाल लेता है । इक्कावान बड़बड़ाता हुआ घोड़े को और पीटने लगता है । यात्री गिरते-पड़ते, चोट खाते और सोहराते हुए उठ खड़े होते हैं और इक्के के वाहन को कोसने लगते हैं । दर्शकों की भीड़ घोड़े की श्वास-रक्षा के लिए तंग रस्सियाँ काटने लगती हैं । यात्री का चित्त इसी व्याधि के कारण इक्के से उखड़ता जाता है । केवल आर्थिक दृष्टि से ही वह अभी तक अपना पग जमाये है ।

ऊँटगाड़ी से उसकी बड़ी प्राचीन होड़ थी। अपनी गति के कारण उसे तो वह परास्त कर चुका है। बेचारी रात भर चलनेवाली यह गाड़ी अब निशाचर-रावण के वंशधरों की भाँति अप्राप्य है। बैलगाड़ी के साथ भी इक्के की तनातनी रही, परंतु गतिमत्ता होने पर भी यह उसे परास्त न कर सका। बैलगाड़ी के ऐसे उपयोग भी हैं, जिनके लिए इक्का सर्वथा अनुपयुक्त है। बलीवर्द खेत जोतते हैं। यह खाद ढोती है। नगरों में और बड़ी-बड़ी हाटों में माल ढोकर ले जाती है। यह ऐसी-ऐसी कच्ची राह पर चली जाती है, जहाँ इक्के का पहुँचना दुस्साध्य है। ग्रामसुधार-आंदोलन यदि ग्राम के छोटे-बड़े सब मार्गों को पक्का कर दे और उनमें लारियाँ उतनी ही मजूरी पर माल ढोने लगें तो संभव है कि बैलगाड़ी की सृष्टि को धक्का पहुँचे।

नगर के पड़ोसवाले इक्कों का बड़ा भारी संघर्ष किराये की मोटरों से चल रहा है। उन्होंने पक्के-चौड़े मार्ग पर बसे हुए ग्रामों और उपनगरों में तो इक्कों का व्यवसाय बिलकुल चौपट कर दिया है। घनी बस्तीवाले नगरों में अभी उनकी कम पुसाती है। किराये की कमी और शीघ्र पहुँचने का लालच यात्रियों को इक्के से पराङ्मुख करके

मोटर-बसों पर अधिक से अधिक संख्या में बिठा रहा है। अपनी स्थिति के संकट से बचने के लिए इक्कों ने नगर में ही शरण ली है। यहाँ उसके कट्टर शत्रु ताँगे, मोटरें, ट्रामगाड़ियाँ और बग्घियाँ हैं। ट्रामगाड़ियाँ तो केवल कानपुर में ही थीं और यहाँ से भी इक्कों के सौभाग्य के उनका अंत हो गया है। उनकी स्मृति आयुसंपन्न व्यक्तियों की कल्पना में रक्षित अवश्य है। इस स्मृति के आलंबनरूप में ट्राम जीवन-काल के लगे हुए तड़ित् स्तंभ और कहीं-कहीं जो-चार हाथ लम्बी पृथ्वी में धँसी हुई ट्राम-पटरियाँ, जिन्हें मार्गों का पुनरुद्धार करनेवाले अभी खोद नहीं पाये, अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं। बग्घी का अवसान अकालमृत्यु नहीं कहा जा सकता। उसका चरमराता हुआ ढीला-ढाला ढाँचा, खड़खड़ाते हुए पहिये, कच्छप की अलसगतिवाला उनका क्षीणकाय अश्वयुगल, बंद बैठक और ढचर-ढचर का राग प्राचीनता के पुजारी, सुस्ती के प्रतिरूप, किसी प्रकार से समय काटने के इच्छुक धनिकों का मनबहलाव कर सकता था। उनकी मनोवृत्ति में क्षिप्रगति का संचार और मोटरों का आविर्भाव दोनों ने मिलकर बग्घी को समाप्त कर दिया। डाक ले जाने के लिए भी अब उसके स्थान में मोटर-

लारी का ही प्रयोग चल निकला है। बड़े-बड़े नगरों में अब बग्घियाँ ढूँढे से नहीं मिलतीं। दो-एक कहीं यदि स्टेशनों पर मिल गई तो वे प्राचीन जर्जर धवल दाढ़ीवाले यात्रियों का मुँह देखा करती हैं, अथवा अधिक बोझवाले यात्री की मितव्ययिता का परितोष करती हैं। तीन ताँगों का भार अपनी छत पर रखकर यात्री के पैसे बचाती हैं।

हिंद-सूबे के नगरों की बस्ती अधिक फैली न होने के कारण मोटर बसें यहाँ पनप नहीं पातीं, अन्यथा बंबई-कलकत्ते की भाँति अन्य सभी वाहनों को वे भगा देतीं इक्के के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है। टैक्सी अधिक मजूरी लेती है। अतएव उसका भी यहाँ प्रचार अभी तो नहीं बढ़ सकता, परंतु इक्के का सबसे बड़ा शत्रु ताँगा है। रात-दिन उसी के साथ इसका संघर्ष चला करता है। साहबी ठाट-बाटवाले कोट, पैंट, हैट धारण करके लोग इक्के पर चढ़ना अपनी हत्तक समझते हैं। वे ताँगे की ही प्रतीक्षा किया करते हैं। यदि पैसा बचाने के भाव से लुक-छिपकर समय-बे-समय वे इक्के पर बैठ भी गये तो लोग उनकी ओर घूरते हैं। ताँगे की गति भी इक्के से द्रुततर होती है। फिर भी यदि इक्के नगरों में जमे हैं तो इसका कारण शुद्ध आर्थिक है। इक्का जनता का है। कम पैसे में

उसका उपयोग किया जाता है। साधारण जनता को वह इसी हेतु प्रिय है।

इक्के के समूल विनाश के कारण ढूँढना सरल नहीं। यदि किसी को ज्योतिषी बनने की धुन है तो वह कुछ कह सकता है। अनुमान साधारणतया यह किया जा सकता है कि यदि साम्यवाद का पदार्पण वाहन-संसार में भी हुआ और उनका भी वर्ग-हीन समाज बना, जिसके कारण ताँगों को नीचे उतरकर इक्कों की मजूरी अपनानी पड़ी तो इक्कों का कहीं पता न लगेगा। साथ ही साथ यह भी अनुमान किया जा सकता है कि यदि कहीं कलकत्ते और बम्बई की भाँति यहाँ भी 'बस' चल निकली तो इक्के और ताँगे दोनों अजायबघरों में ही मिल सकेंगे। जीवों की रक्षा का मोह उनके जीवन को रोके नहीं रह सकता। परंतु अभी ऐसी आशंका नहीं है।

कर्मकांडवाद और वितंडावाद

हम लोग अपने सब सिद्धांतों का सूत्र वेदों में ढूँढते हैं। इसका एक कारण यह है कि भारतीय धार्मिक वृत्ति वेदों को चिंतना का परमोत्कर्षपूर्ण स्वरूप मानती है और ज्ञान का अंतिम सोपान समझती है। दूसरा एक और भी कारण है। वेद संसार-साहित्य की प्राचीनतम विभूति है, अतएव जो बात उनमें मिल जाती है उसकी ऐतिहासिक प्राचीनता स्वत सिद्ध हो जाती है। शुद्ध ज्ञानवादी तार्किक को भी वेदों की इस उपयोगिता से सहानुभूति है।

कर्मकांड सिद्धांत का आरंभिक स्वरूप वेदों में है। उनमें कई ऐसी ऋचाएँ हैं जिनका भाव कुछ इस प्रकार का है—'मेरे शत्रु नरक में पड़ें। मेरे मित्रों को स्वर्ग मिले'।

इन युक्तियों से यह स्वयं ध्वनित होता है कि उस युग का इतर-जीवनवाद में पूर्ण विश्वास है और इतर-जीवनवाद का निर्माण ही कर्मकांडवाद पर आश्रित है। कर्मकांडवाद का अत्यंत स्थूल और मूल सूत्र इनमें मिलता है। ब्राह्मणों में यह सिद्धांत अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। उनमें केवल इतना ही नहीं कहा गया है कि इस जीवन के कर्मों द्वारा भावी जीवन का निर्माण होता है वरन् वे विधान भी लिखे हुए हैं जिनके करने से देवताओं तक पहुंच होसकती है। न जाने कितने प्रकार के मंत्र दिये हुए हैं और उनके उच्चारण विधान की व्याख्या की गई है।

कर्मकांडवाद का निरूपण उसी समय से समझना चाहिए जिस समय से मंत्रों पर अधिक जोर दिया जाने लगा और यज्ञों का विधान हुआ। मंत्रकारों में एक ऐसा अहंभाव उत्पन्न होगया जिसमें विधान साध्य के तद्रूप समझा जाने लगा। वे यह समझने लगे कि देवता यज्ञों और मंत्रों के दास हैं। मंत्रकार और यज्ञकार को अभिलषित वर न देना उनकी शक्ति के परे है। देवता कल की भाँति अशक्त समझे जाने लगे। उन्हें अपनी अपनी पड़ने लगी। अपने पद, अपने स्थान की रक्षा से वे

चिंतित होने लगे। तपस्या मंत्राराधना आदि यज्ञ में विघ्न उपस्थित करने के लिये उन्हें अप्सराओं की शरण लेनी पड़ी। यदि किसी साधक पर अप्सराएं विफल हुईं तो इंद्र का आसन हिल जाता था और उसे अपदस्थ होना पड़ता था। यह विचार इतना व्यापक और भ्रामक होगया कि शनैः शनैः यह धारणा बंध गई कि कई इंद्र और कई ब्रह्मा हैं; वे एकाकी नहीं हैं। यह अनेकता पुराणों में सर्वत्र दिखाई देती है। राक्षस और दानव तपस्या करते हैं और उन्हें मनमाना वर मिलता है।

अरण्यकों का भी क्रम उसी प्रकार रहा। कर्मकांड के सिद्धांत के विकास में उनका अपना स्थान है। ब्राह्मणों में निर्दिष्ट कर्मकांड के घोर पार्थिवरूप तथा उपनिषदों की कर्मकांडविषयक दार्शनिक और आध्यात्मिक विकृति का सामंजस्य अरण्यकों ने ही स्थापित किया है। ब्राह्मणों के कर्मकांड की प्रतिक्रिया उपनिषदों में मिलती है। यज्ञ करना, बलि करना, उचित मंत्रोच्चारण करना सबके लिए सरल-संपाद्य न था। धन की आवश्यकता, तथा वाक्-यंत्र के समुचित विकास की अनुपस्थिति, उपासक को उनके लिए अयोग्य बना देती थी। अतएव साधना की बलवती प्रेरणा साधक को वनों में खदेड़ ले जाती थी

और वे तपस्या और दार्शनिक चिंतना में निमग्न हो जाते थे। इन्हीं महर्षियों ने कर्मकांडवाद का दार्शनिक मूल्य-निरूपण भी किया है। केवल घोर कर्मकांड से कर्मवाद को ऊपर उठाकर उसकी मूल प्रेरणा को सहेतुक ढंग से समझने का प्रयास किया गया है। अतएव यही कर्मकांडवाद कर्मवाद के रूप में गृहीत हुआ और इसके तीन स्थूल कर्म बने—

(१) हिंदुओं का कर्मकांड जिसके मूल में जन्मांतरवाद की बलवती भावना काम करती थी।

(२) बौद्धों का कर्मवाद जो आत्मा के जन्मांतर को अस्वीकार करता हुआ भी कर्मों के अमिट प्रभाव को स्वीकार करता है।

(३) जैनों का कर्मवाद जो बौद्धों के कर्मवाद के ही सदृश था पर उसके निरूपण में कुछ सूक्ष्म भेद दृष्टिगत होता है।

वर्तमान युग में कर्मकांडवाद ने एक विचित्र ही रूप ले लिया। आदिकाल से उसका विकास कैसे हुआ इसका थोड़ा संकेत ऊपर कराया जा चुका है। परंतु इस विकास के इतिहास की आज तक की कड़ियां उपस्थित करना बड़ा कठिन है। दूसरे राष्ट्रों के चिंतकों ने कर्मकांडविप-

यक भावना को अपने अपने ढंग से सोचा और विकसित किया है, पर भारतीय भावना एक बिल्कुल दूसरे ही ढंग से बढ़ी है। कर्मकांड का व्यवहार पक्ष आज भारतवर्ष में चार स्वरूपों में देखा जाता है—

क्या कर्मों का फल मिलता है ?

(१) व्यक्ति प्रधान रूप—कर्मकांड के मानने वालों का एक वर्ग उसके व्यक्ति-प्रधान रूप को ही सत्य मानता है। उसका कहना है कि मनुष्य के कर्म इस जीवन के पश्चात भी उसका साथ नहीं छोड़ते। वास्तव में अगले जन्म का जाति और योनि निर्णय भी पिछले जन्म के कर्म के ही द्वारा होता है, व्यक्ति प्रधान रूप वाले कर्मकांड वादियों के सिद्धांत के विश्लेषण में मतांतर है। कुछ लोगों का कहना है कि केवल पुण्य कर्मों ही द्वारा भावी जन्म का निरूपण होता है और प्राणी पहले पुण्य जीवन व्यतीत कर लेता है तब पाप कर्मों का फल भोगता है। कुछ लोग इसके बिलकुल प्रतिकूल विचार रखते हैं। उनके अनुसार प्राणी पहले पापों का फल भुगत लेता है, फिर पुण्य कर्मों के अनुसार जन्म लेता है। एक तीसरा वर्ग भी है जो यह समझता है कि पुण्य कर्म और पाप कर्म का पहिले संघर्ष स्वतः हो जाता है और

पुण्यात्मा के पाप इस प्रकार परास्त होकर नष्ट हो जाते हैं। उसे पापों का फल भोगना नहीं पड़ता।

व्यक्ति प्रधानरूप कर्मकांड की भावना का ही निष्कर्ष स्वर्ग और नरक की सत्ता का स्वीकार है। कुछ चिंतक इस बात में दृढ़ हैं कि स्वर्ग और नरक की परिस्थितियाँ इस जीवन के बाद की परिस्थितियाँ हैं, जिनमें प्रत्येक आत्मा को अपने पुण्य और पाप कर्मों के कारण पड़ना अनिवार्य है, दूसरे पंडितों का कहना है कि स्वर्ग और नरक प्राणी के टिकने के लिये केवल मार्ग के यात्री-आवास है। जिस प्रकार रेलवे थोड़े काल के लिये स्टेशन पर खड़ी होकर आगे चल देती है इसी प्रकार प्राणी भी यहां थोड़े काल के लिए टिककर आगे बढ़ जाता है। जब तक उसके पाप और पुण्य के फलों का परिणाम उसे भोगना रहता है तब तक वह नरक या स्वर्ग में रहता है, बाद में वहां से चल देता है।

'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशंति।'

गीता का इस उक्ति का यही अभिप्राय है। पश्चिमी चिंतकों की 'परगेटेरियो' भी इसी अवस्था से मिलती जुलती परिस्थिति है।

इस स्वर्ग-नरक के सिद्धांत का कच्चसिद्धांत है 'पितर-

वाद'। मृत पितरों के न जाने कितने निवास-स्थान गिनाये गए हैं। पर जहाँ भी वे रहते हैं उन्हें जीविका के लिए अपनी संतान पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है। यदि श्राद्ध में पिंडदान न मिला तो उन्हें अधोमुखी बिलम्बान रहना पड़ता है। इसी बात को लेकर ही गीता में लिखा है—

'पतन्तिपितरो ह्येषाम् लुप्तपिंडोदकक्रिया'।

निस्संतान पितर रुदन किया करते हैं। पुत्रोत्पादन इसी भावना के कारण, परमावश्यक बतलाया गया है। पितरों का एक ऋण कहा जाता है जो पुत्र-उत्पत्ति से ही अदा होता है—

'यः पुत्री सोऽनृणी'।

पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी से है—

'पुन्नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः'।

अर्थात् पुत्र ही पिता को एक नरक विशेष से बचाता है। उसका पिंडदान उसे सँभाले रहता है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पितृयोनि को एक पृथक सृष्टि ही मानते हैं। देवयोनि, गंधर्वयोनि, यक्षयोनि की ही भाँति इस योनि की भी वे एक अलग सत्ता मानते हैं।

प्रतिनिधिरूप— यह सिद्धांत कर्मकांड का एक शोषण-

वादी सिद्धांत है। इसके अनुसार व्यक्ति विशेष द्वारा किये हुए पुण्यकर्मों का भोक्ता दूसरा भी हो सकता है। इसी के आश्रित और इसी के आधार पर, व्यवहार रूप में, निम्न-लिखित कर्मकांड के विधान दिखाई देते हैं—

(क) पुरोहित पुण्यकार्य-कर्ता है और यजमान अथवा गृहस्थ उसके लिये उसे पुष्कल धन देता है। अतएव पुरोहित द्वारा किये हुए समस्त पुण्यकर्मों का फल धनदाता को मिलता है।

(ख) पति, पत्नी के पुण्यकर्म का फल प्राप्त करता है, पत्नी पति के पुण्य कर्मों की भागी होती है। सुंद राक्षस की पत्नी पतिव्रता थी अतएव वह अवध्य था। पाराशर के सकाश से मत्स्यगंधा चिरयौवना और योजन-गंधा हुई।

(ग) राजा के पुण्यकर्मों का फल प्रजा को मिलता है और प्रजा के पुण्यकर्मों का प्रतिफल राजा को मिलता है। इसी से ऋषिकों से कोई राज कर नहीं लिया जाता था और उनसे आशीर्वाद लेने के लिये राजा लोग जंगलों में जाया करते थे। पुण्यात्मा राजा के राज्य में प्रजा हमेशा प्रसन्न रहती थी। रामराज्य इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

(घ) ऋषि-मुनि सामूहिक रूप से तपस्या करके अथवा पुरोहित लोग सामूहिक रूप से यज्ञ करके दूसरे को पुण्यकर्मों का प्रतिदान तो देते ही है, स्वतः भी परस्पर पुण्य फलों के आदान-प्रदान का आनंद प्राप्त करते है।

इस स्थान पर यह न भूलना चाहिए कि जिस प्रकार पुण्यकर्मों का फल व्यक्त्यंतर हो सकता है उसी प्रकार पापकर्मों का फल भी व्यक्त्यंतर होता है। उत्तररामचरित नाटक में ब्राह्मण कुमार की अकाल मृत्यु और शम्बूक वध की कथा इसी ओर संकेत करती है।

(ङ) ईश्वरवादीरूप—कर्मकांड के इस सिद्धांत में भक्तिभावना की प्रधानता रहती है। सारे कर्मों के परिणाम को कर्ता भगवान के अधीन समझता है। भगवान के समक्ष पुण्य और पाप की कोई पृथक स्थिति नहीं है। ईश्वर चाहे तो पापी को स्वर्ग और पुण्यात्मा को नरक भेज सकता है। राक्षसों को केवल इसीलिए स्वर्ग मिला कि राम ने उन्हें मारा था। अजामिल, गीध, गनिका, गज इत्यादि पापियों को सहसा अंत में ईश्वरोनुमुखी होने से स्वर्ग मिल गया। मरते समय यदि किसी ने भगवान का नाम लिया कि स्वर्ग तुरंत मिला। पुण्यकर्मों

का चाहे सजग हों अथवा असजग, प्राणी उन्हें जानकर करे अथवा बेजान में, उन सबका पुराने पाप कर्मों को धो देनेवाला प्रभाव होता है और स्वर्ग सेंत मेंत में मिल जाता है। उलटा नाम जपने वाला व्याधा ब्रह्मर्षि वाल्मीकि बन बैठा। शिव की मूर्ति पर पैर रखकर घंटा चुराने वाला चोर स्वर्ग पहुंच गया।

आकस्मिक रूप—कर्मकांड का यह रूप अन्य रूपों का अस्वीकार है। प्राणी केवल एक निष्क्रिय प्रेरणा विहीन बाहरी परिस्थितियों का दास समझा जाता है। इस वर्गवाले लोग ऐसी प्रेरणा और परिस्थितियों को मानव भाग्यविधायिनी समझते हैं जो न तो कार्यकारण के तर्क से संबंधित है और न उनमें कोई पारस्परिक व्यवस्था है। आकस्मिकता के साथ उत्थित होकर वे सारी पूर्व-जीवनी को अपने अधीन कर लेती हैं। शिक्षित लोग जिन धारणाओं को अब भ्रामक मानने लगे वे ही न जानें कितने काल तक भी मानवता की विचार-परंपरा को लपेटे थीं और अब भी बहुत अंशों में लपेटे हैं। यह आवश्यक नहीं कि मानव की गति से इसका कोई भी भौतिक, ऐहिक अथवा तार्किक संबंध स्थिर किया जा सके। पर इनका प्रभाव अक्षुण्ण अनुभव किया जाता है। किसी के

छींक देने से रेलवे ट्रेन लड़ जाती है। शृगालों के, यात्रा के समय, बोल देने से मार्ग में डाकू लूट लेते हैं। बुध के दिन का परदेश प्रयाण छूँछा जाता है। अन्त्यज के स्पर्श से मृत शरीर अशुद्ध होजाता है और उसकी आत्मा नरक जाती है। दूसरी ओर काशी में मरने से पापी को भी स्वर्ग मिलता है। सौ जोजन से 'गंगा-गंगा' चिल्लाने वाले के सब पाप छूट जाते हैं और वह विष्णुलोक जाता है।

कर्मकांड विषयक इस वितंडावाद से भारत को बड़ी क्षति पहुंची है। ऊपर कर्मकांड के जितने वाद दिखलाये गये हैं उनमें सब में मनमानी ढंग की चिंतना है। इनमें कई तो एक दूसरे के विरोधी हैं। ऐसे में सच्चा अनुयायी तो बड़े झमेले में पड़ जाता है।

कर्मकांड का सारा विवाद उस समय नष्ट होजाता है जब हम उसके शुद्ध असली रूप की समीक्षा करने लगते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में ही आदर्श कर्मकांडवाद की प्रतिष्ठा मिलती है। अंश अंशी से अथवा आत्मा परमात्मा से अपनी पृथक स्थिति मानता ही नहीं। अंश अपने को अंशी समझता है. आत्मा अपने को परमात्मा समझती है। इस पूर्णअद्वैत में, इस सोऽहम् की स्थिति में आत्मा केवल परमात्मा के व्यक्तीकरण का माध्यम रह जाता है।

असीम के कार्य ससीम की स्थिति हैं। ससीम ऊपर नीचे, बाहर भीतर सर्वत्र असीम ही है अतएव ससीम के क्रिया कलाप असीम की पवित्रता की माप हैं। परंतु यह स्थिति प्राप्त करना सरल नहीं। निरंतर की साधना से ही साध्य और साधक का अद्वैत हो सकता है।

———

बड़े बाबू

भारतवर्ष में मध्यम श्रेणी के व्यक्ति समाज के अग्रगण्य और नगण्य दोनों का समन्वय हैं। वे पवन भी हैं और पवन-पताका भी। वे अधिकतर उच्चश्रेणी और निम्न श्रेणी की संघर्ष-रेखा हैं। उनका दोनों पर प्रभाव है और दोनों का उन पर अटूट अधिकार है। मध्यम श्रेणी भी एक बड़ा वर्ग है। उसमें भी उच्च-मध्यम और निम्न-मध्यम अपने अपने निकटतम वर्ग की रूप-रेखा की रक्षा करते हैं।

बड़े बाबू एक ऐसी मध्यम-श्रेणी के व्यक्ति थे जो अपने को उच्च-मध्यम-श्रेणी की आकांक्षाओं का प्रतिरूप मानता है। उनका वेतन दो सौ रुपया मासिक था। डाक-खाने की नौकरी में हाथ-पैर थकने के बाद विश्राम-वेतन

आमरण मिलने की व्यवस्था थी। अतएव बड़े बाबू कुछ बचाने के पक्ष में न रहते थे। सब कटकटाकर १८१॥।=) उन्हें प्रतिमास मिलता था। डाकघर में ऊपरी पैदा का अवकाश नहीं। दो लड़के एक लड़की थी। तीस रुपया मासिक रहने के लिए घर का किराया लगता था। एक नौकर था जिसे बारह रुपये प्रति मास देना आवश्यक था।

बड़े बाबू की बैठक-उठक आर्थिक श्रेणी-विभाग के अनुसार ऊँचे कहे जानेवाले व्यक्तियों में थी। हवादार स्वच्छ घर के अन्वेषण में बड़े बाबू नगर को छानते हुए ऐसी बस्ती में आ बसे थे जहाँ धनिकों का समारोह था। इन लोगों का व्यय, साधारण प्रकार से, एक सहस्र रुपया मासिक से लेकर पाँच और दस सहस्र रुपया मासिक तक था। बड़े बाबू इन्हीं की अट्टालिकाओं तक अपने उच्छ्-वास पहुँचाने का प्रयत्न किया करते थे और उन्हीं की भाँति अपनी पतंग की डोर भी लम्बी रखना चाहते थे।

बड़े बाबू अपने धनिक पड़ोसियों की रेखा से रेखा मिलाकर लिखने के लिये बाध्य थे। यह उनके वस की बात न थी। कोई ऊँची छत सर खड़ा होकर उनकी नीची छत की ओर देखे, यह उन्हें पसंद न था और यदि कहीं मुस्करा दे तो वे और भी अपमानित अनुभव करते थे। यदि उन

का वस चलता तो वे अपना घर इतना ऊँचा वनाते कि कोई वहाँ तक देख न सकता। वे धन से लाचार थे, मन से नहीं। कपड़े उतने बहुमूल्य न हों पर स्वच्छ अवश्य होने चाहिए। वच्चे भी वही नहीं तो उसी प्रकार के कपड़े अवश्य पहनते थे। उनके लिए भी छोटी गाड़ी थी। वड़े वावू का नौकर भी औरों के नौकरों के साथ कभी प्रातःकाल कभी सायंकाल वच्चों को गाड़ी पर विठा कर घुमाने ले जाया करता था।

वड़े वावू की यह होड़ कह कर नहीं होती थी। छिपे-लुके स्पर्धा चला करती थी। परंतु यदि कभी वात आ जाय तो धनिकों के वीच में वड़े वावू अपनी आर्थिक हेयता पर वड़े गर्व के साथ यह कह कर आवरण डाल दिया करते थे कि 'अरे भाई, हम निर्धन हैं। हम आपकी समता कैसे कर सकते हैं।' जव मुख यह कहता था तव भी मन समता से कट जाने के लिये उवला पड़ता था। चाहे ऋण भी लेना पड़े तो चुराकर ले लेने के लिए वे उतावले हो जाते थे। विपमता वे जानते और समझते भी थे। उसका पूर्ण निराकरण उनकी शक्ति के परे था। उन्हें अखरता केवल यह था कि कोई विपमता को सुझावे क्यों।

सव कुछ तो वरावरी चलती थी, एक मोटर क्रय

करना बड़े बाबू के सामर्थ्य के परे था। उनके निवासस्थान की सुनहली परिधि उन्हें चकाचौंध किये थी। फटी गूदड़ी पर लगी हुई मखमल की गोट गुदड़ी को मखमल नहीं बना सकती। धनिकों की स्पर्धा उन्हें धनिक नहीं बना सकी, प्रत्युत वे और निर्धन होते जाते थे। बड़े बाबू कसमसाहट में उधड़े जा रहे थे। जब वे किसी धनिक से यह कहते कि हम आपकी जोड़ नहीं हैं तो उनकी अंतरात्मा यह कहती कि मैं सब से अच्छा हूँ, मैं पढ़ा लिखा हूँ, मैं अधिक सभ्य हूँ, मैं चरित्रवान हूँ, मैं सुरापान नहीं करता, मैं मांस नहीं खाता, मैं इन लोगों की भाँति दिन-रात झूठ नहीं बोलता, मेरे कई संतान हैं, न सही एक धन और फिर भगवान् की कृपा से धन की भी कोई ऐसी कमी नहीं है। खाने-पीने भर को वह दे ही देता है। विश्राम लेने पर विश्राम-वेतन है। इन लोगों की क्या दुर्दशा होगी यदि कहीं इनका धन निकल गया।

बड़े बाबू का यह मन-समझौवल बड़प्पन केवल मन को समझाने भर के लिए था। प्रतिदिन की विषमता के कारण उन्हें जो अपमान अनुभव होता था, वह अखरने की वस्तु थी। कोई उन्हें कोंचता था। यदि पड़ोस के बिहारीलाल यह कह दें कि बड़े बाबू तुम्हारे बच्चे बड़े

गंदे रहते हैं; तो बड़े बाबू का यह साहस तो था नहीं कि वे यह कहें कि तुम्हारे तो कोई संतान है नहीं, तुम बच्चे की बात क्या समझो, वरन् दब्बू आकृति लेकर अपनी पत्नी पर टूट पड़ते। बड़ी बबुवाइन वही बात घर की चार दीवारों के भीतर हल्ला मचा कर कह देतीं। परंतु बिहारीलाल वहाँ सुनने को न थे। बड़े बाबू की क्रोध-सरिता की घरघराहट जब धीमी पड़ती तो बड़े बाबू की मालकिन कह देतीं कि साबुन समाप्त हो गया है। पैसे थे नहीं। कुरते भी तो चार ही हैं। दो धोबी के यहाँ हैं। अब की धोबी भी बहुत दिनों से नहीं आया। बड़े बाबू विवशता के झटके को धीरे से झेल कर उसके निराकरण का उपाय सोचने लगते थे।

ऊपर के वर्ग से होड़ा-होड़ी थी ही, बड़े बाबू नीचे के वर्ग के भी लक्ष्य थे। वे लोग उन्हें भी लक्षाधिप समझते थे। वास्तव में मध्यम वर्ग की विपरीताक्रमण सहनशील स्थिति दयनीय है। उधर ऊपर के वर्ग से वह स्वयं संघर्ष लेता है, इधर नीचे का वर्ग उसे समय-समय पर उकसाया करता है। बड़ा बनने का उसका साहस एक ओर जहाँ उसे पोला करता जाता है, वहाँ दूसरी ओर छोटों की आशाओं की रक्षा भी उसी मनोभाव से उसे भूने डालती

है। यह दुतर्फी टक्कर उसे क्षुब्ध किये रहती है। धनिकों के बीच धनी बनने का स्वाँग; गरीबों के बीच उनकी मिथ्या-भावना के वातावरण के निराकरण के साहस का अभाव, यह बेचारे का हाल रहता है। निम्नश्रेणी के व्यक्ति मध्यम श्रेणी के व्यक्ति को भी धनी समझते हैं, अतएव उनसे भी वही मिलने की आशा रखते हैं जो बड़ों से। उनके ज्ञान-कोष में उच्च श्रेणी और मध्यम श्रेणी का विभाजक परिणाम स्पष्ट ही नहीं होता।

बड़े बाबू इसी चक्कर में थे। एक ओर जहाँ वे मेघों में उड़ कर घुलमिल जाना चाहते वहाँ दूसरी ओर पृथ्वी पर पड़े रहनेवालों के लिए वर्षा भी करना चाहते थे। यह मनोभाव उनकी आय का भोग भी करता था और क्षय भी। पुरोहित, नाई, कहार, कुम्हार, दरजी, धोबी, माली इत्यादि सभी बड़े बाबू को बड़ा आदमी बना कर धनकुबेर बनाये थे। वाह-वाह की बाढ़ और चाटुकारिता के काँटे ऐसे सर्वत्र बिछे रहते थे कि बेचारे बड़े बाबू को धरती पर सीधे पैर रखना कठिन रहता था। नाइन कहती थी कि लाला गिल्लूमल के गिन्ने के मुंडन में उसे सोने का कड़ा मिला था। कहार कहता था कि लाला बिरधीचंद के टाव्वर के जन्म पर उसे एक बड़ा भारी हंडा मिला था।

कुम्हार कहता था कि घनश्यामदास लाला उसे एक सुराही का आठ आना मूल्य देते हैं। दरजी कहता था कि रायबहादुर किसुनलाल अपने लड़कों के कुरतों की सिलाई एक रुपया कुरता देते हैं। पुरोहित का झगड़ा तो प्रति दिन का था। चाहे कथा हो चाहे श्राद्ध, वह एक ही स्वाँस से पड़ोसियों की उपमा देने लगता था। बड़े बाबू इस भीड़ से कहाँ तक बचते ? सरीकत की चिकनाहट उनके दान-पथ को इतना रपटीली बना देती थी कि बड़े बाबू उसमें रपट कर पड़ोसियों से भी आगे पहुँच जाते थे। चाकरों का उद्देश्य पूरा हो जाता था। बड़े बाबू का उदाहरण कृपण वणिकों के यहाँ भी पहुँचाया जाता था।

बड़े बाबू की गृहिणी उनकी उदारता की अधूरी बाँध थी। परंतु कभी-कभी क्या अधिकतर उनकी दान-सरिता बाँध के ऊपर से बह कर निकल जाती थी। अपने भर गृहस्वामिनी अपने अधिकार का उपयोग करतीं। मँगतों को वह अपनी हैसियत के अनुसार ही देतीं। जब तक बड़े बाबू बाहर रहते, गृहिणी का साम्राज्य था। 'प्रजा' लोग चाहे जितने असंतुष्ट रहते, उन्हें आशीर्वाद देना ही पड़ता। हाँ, यदि कहीं होड़ा-होड़ी वाले शब्द बड़े बाबू के कानों में पड़ जाते तो चाहे उन्हें कहीं से ऋण ही क्यों न लाना पड़े,

वे हेठी न देख सकते थे। स्वामी के आगे स्वामिनी चुप रह जातीं क्योंकि वे स्वामिनी के भी स्वामी थे। अकेले में बड़े धीरज के साथ बड़े बाबू अपनी पत्नी को समझा देते कि तुम्हें तो कहीं निकलना नहीं पड़ता; हमारी तो पड़ोसियों के सामने गर्दन नीची होती है। इस अपमान को तुम क्या समझो? घर की भलमंसी किसी प्रकार बनाये रखना है।

बड़े बाबू और उनकी पत्नी के व्यवहार की इस विषमता को संकेत करके बहुधा उनके घर के चाकर कहा करते—'मालिक अगर हाथ झाड़ते हैं तो अशरफियाँ गिरती हैं, लेकिन मालकिन के हाथ झाड़ने पर बिच्छू-साँप गिरते हैं।' बड़े बाबू की गृहिणी हँस दिया करती थी। वह कहने लगती—'उन्हें कुछ करना पड़ता है? घर तो मेरे मत्थे है।'

पड़ोस में किसी के घर जब बड़ी बहुवाइन का आमंत्रण मिलता तो वे कभी नहीं जातीं। एक बार गिरधारीलाल के यहाँ बड़े बाबू के बहुत कहने सुनने से उन्हें जाना पड़ा। वह अपने अच्छे से अच्छे वस्त्र पहने थी। उनके आभूषण भी कुछ माँगे के और कुछ निजी बड़े मूल्यवान थे। परंतु फिर भी सेठानी के यहाँ की मिश्रानी का ठाठ बहुवाइन से अच्छा था। बहुवाइन पर यदि पश्चिमी वायु का प्रभाव

पड़ा होता, अथवा गाँधीजी के सरल जीवन की दीक्षा मिली होती, तो उनकी सजावट पर कदाचित कोई आपत्ति न करता, परंतु वे नितांत पुरानी भारतीय संस्कृति की प्रतिकृति थीं। ऊपर से नीचे तक आभूषणों से लदना आवश्यक था। पुरानी संस्कृति की सरीकत में गरीबी का स्थान कहाँ है? बहुवाइन पर छींटे भी कसे गये। वे जल-भुन कर रह गयीं। सबसे बुरी बात तो यह हुई कि किसी आगंतुक ने उन्हें साधारण ब्राह्मणी समझ कर दो रुपये की न्योछावर देना चाहा। सेठानी ने भी मना नहीं किया। बस, यह दिन पहला और अंतिम दिन था। बड़े बाबू ने जिस समय सब बातें सुनीं, तिलमिला गये। पत्नी का किसी के यहाँ भी जाना बंद हो गया। जब कहीं कोई बहुत कहता-सुनता तो बीमारी का और बच्चों का बहाना कर दिया जाता था।

बड़े बाबू के यहाँ यदि कोई रुग्ण होता तो एक विचित्र समस्या खड़ी हो जाती। पड़ोसी लोगों के यहाँ छींक आने पर भी सिविल सर्जन बुलाया जाता था। बड़े बाबू के पास असिस्टेंट सर्जन को भी बुलाने का साहस न था। पास ही एक दानी चिकित्सालय था। वहाँ जाने का पता यदि किसी को लग जाय तो तुरंत हँसी उड़ जाय।

लुक-छिप कर उसका प्रयोग बड़े बाबू कर लिया करते थे। इस घटना की घोषणा एक बार दानी चिकित्सालय के बड़े डाक्टर ने धोखे से कर दी। सबके सामने कहीं उन्होंने पूछ लिया, "मुन्नी की खाँसी कैसी है? मेरी औषधि से कुछ लाभ हुआ?"

बड़े बाबू ने झूठ की ढाल सामने करके आत्म-सम्मान की रक्षा करनी चाही। झट बोल उठे, "आपके यहाँ से औषधि अवश्य ले आया था परंतु सिविल सर्जन की दवा हो रही है।"

डाक्टर ने बात काट कर फिर कहा, "परंतु आपका सेवक तो कई बार चिकित्सालय से मेरी ही बतायी हुई औषधि लाया है।"

"कदाचित् आप रुष्ट न हो जायँ इसलिए मुन्नी की माता ने ऐसा किया होगा।" यह कह कर बड़े बाबू ने अपने प्राण बचाये।

डाक्टर साहब कुछ क्षोभ और तिरस्कार की मुस्कराहट के साथ यह कह कर चल दिये कि आपको इस प्रकार दरिद्रों के लिए मँगायी हुई औषधि का अपव्यय न करना चाहिए।

डाक्टर साहब के चले जाने के बाद अपनी धनिक

मंडली के बीच बैठ कर बड़े बाबू इस डाक्टर की खूब प्रशंसा करने लगे। 'डाक्टर साहब हमारे घरवालों की प्रकृति को अच्छी तरह पहचानते हैं। सबके सरद-गरम स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। इनकी निश्चित की हुई औषधि अवश्य लाभ करती है। बेचारे रात-बिरात जब सुन लेते हैं कि कोई बीमार है या सिविल सर्जन आया है, तो स्वयं आ जाते हैं। फीस बहुत कहने पर भी नहीं लेते।'

सेठ बिरधीचंद ने इस लम्बी भूमिका के तत्व को समझ कर रहस्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ कह ही डाला, "तो क्या बात है, यहीं से दवा ले लिया कीजिए। यदि आत्मा कुछ कोंचे तो साल में सौ पचास रुपये इसी चिकित्सालय में दान कर दिया कीजिए। हम सभी लोग दान देते हैं।"

बड़े बाबू ने व्यंग्यार्थ की ओर उपेक्षा कर के वाच्यार्थ पर ही जोर देकर बात समाप्त कर दी। उस दिन से इसी चिकित्सालय से व्यवहार खुल गया। नौकर और महाराजिन बच्चे को ले जाया करते थे।

घर की बैठक बड़े बाबू की देशी थी। थोड़े दिनों के लिए कुरसी और सोफा की व्यवस्था ने बड़े बाबू का बड़ा व्यय करा दिया। अब पक्की पृथ्वी पर मोटे गद्दे के ऊपर ही

स्वच्छ चादर और उस पर तीन स्वच्छ आवरण की बड़ी तकिया सब कुछ थीं। इससे बड़ी बचत थी। कोट-पतलून वालों को जब बैठने में कष्ट होता, तो बड़े बाबू विनोद की हँसी हँसते हुए कह दिया करते—'भाई, हम तो भारतीय हैं। हमें तो देशी प्रबंध अच्छा लगता है। दो चादरें और गिलाफों की जोड़ी—बस, सब कुछ हैं।'

बड़े बाबू की निजी वेषभूषा दुरंगी थी। कार्यालय में तो अँग्रेज़ी वेश में जाया करते थे, परंतु घर पर गाँधीजी की कृपा थी। एक खद्दर का कुर्ता और एक टोपी। धोती खद्दर की आवश्यक न थी। शीत में घर की बनी हुई ऊनी बनियायिन और एक सादी अंडी। इस सरलता में सम्मान की पूरी रक्षा थी। बड़े बाबू का सरलता के साथ यह ग्रंथि-बंधन नितांत उपयोगवाद पर आश्रित था, यद्यपि कहा वे यह करते थे कि इस वेश में उन्हें बहुत सुख मिलता है।

चंदे के प्रश्न पर बड़े बाबू सबसे आगे थे। परंतु वे हमेशा गुप्तदान किया करते थे। उनके चरित्र के और उप-करण यह तो निश्चित करते न थे कि बड़े बाबू को अपने नाम के विज्ञापन से कोई सैद्धांतिक विरोध है, परंतु विज्ञा-पन का विरोध यहाँ साभिप्राय था। दान की हुई रकम इतनी न्यून होती थी कि उसका गुप्त रखना ही गौरव की रक्षा

करना था। घोषित करके दान करनेवाले अपने धनी पड़ोसियों का उपहास करते समय भी अपनी महत्ता का चित्र ही उनके समक्ष रहता था। वे कहा करते थे कि दक्षिणा-कार्य-संलग्न दक्षिण हाथ के प्रयोग को पड़ोसी बायाँ हाथ भी न जाने, तब पुण्य कार्य की सार्थकता है। चंदे की बात भी और बातों की भाँति मुँदी-ढकी चली आती थी।

जब किसी के यहाँ विवाह-काज होता तो धनी पड़ोसी एक सौ एक, इक्यावन, ग्यारह और कम से कम पाँच रुपये अवश्य देते। बड़े बाबू व्यवहार का रुपया हमेशा छिप कर देते। जब कभी पता लग जाता कि उन्होंने केवल दो ही रुपये दिये हैं और कोई पास का व्यक्ति मुस्करा देता तो बड़े बाबू झट से अपनी त्वराबुद्धि का परिचय देकर कहने लगते—भाई, व्यवहार उतना ही करना चाहिए, जितना निभे। हम लोग इतना ही दूसरों से भी तो लेते हैं। मान लीजिए कि आज भगवान ने हमें माना है। हम जितना चाहें दे सकते हैं, पर यदि दिन पलटे तो बढ़ा हुआ व्यवहार बेचारे बच्चे कैसे निभा सकेंगे?

बड़े बाबू में एक द्रुतद्रवणशीलता थी, एक अल्हड़ उतावलापन था। पड़ोसियों की स्पर्धा से कभी कोई वेग

आरंभ हो जाता । थोड़े दिनों तक परिस्थिति की पैंग ऊपर ही उठती जाती, परंतु शीघ्र ही वास्तविकता का एक झटका झूले को नीचे ले आता । बाढ़ निकल जाती और नदी समरूप से बहने लगती । दूसरे को देख कर कभी यह निश्चय हो जाता कि बच्चों को अंग्रेज़ी कान्वैंट स्कूल में भेजा जाय । थोड़े दिनों तक यह क्रम चलता । पड़ोसियों के बच्चे वहीं पढ़ते थे । परंतु पंद्रह रुपये मासिक व्यय और कपड़ों का व्यय पृथक् कहाँ तक निभाया जा सकता था ? किसी न किसी बहाने से कान्वैंट बंद हो जाता । बड़े बाबू बड़े ऊँचे स्वर में कान्वैंट की बुराई करते सुने जाते । यहाँ पढ़ाई बहुत बुरी है । दिन भर लड़कों को खेलाया जाता है । हिसाब तो बिल्कुल आता ही नहीं । अंग्रेज़ों की सी आदतें पड़ जाती हैं । काले लोगों के लिए घृणा उत्पन्न हो जाती है । हिंदी का उच्चारण तो बिलकुल भ्रष्ट हो जाता है ।

बड़े बाबू की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी और अपने पड़ोसियों की स्थिति-विषमता को अच्छी प्रकार समझते थे, परंतु स्वीकार नहीं करते थे; कहते भी थे पर सामने मानते न थे । उनके भीतर और बाहर का बेमेल भाव घर और बाहर को दो रूप में सामने रखता

था। बाहर की वस्तु प्रदर्शन की थी और भीतर की छिपाने की। पड़ोस की स्त्रियों का भी भीतर आना बड़े बाबू को रुचिकर न था।

बड़े बाबू के व्यय की कुछ मदें ऐसी थीं जिनका तो कम होना असंभव था। धनिक पड़ोसियों के यहाँ से भी कुछ-कुछ अंशों में यह व्यय बढ़ गया था। प्रति दिन की हजामत में दो रुपया मासिक; धोबी को पाँच रुपया मासिक; साबुन और फिनैल के लिए दो रुपया मासिक; दूध घी का तीस रुपया मासिक, किराये के तीस रुपया मासिक। इतने मदों में तो कोई कमी हो ही नहीं सकती थी। हाँ सेफटी अस्तुरे ने हजामत का खर्चा कुछ कम कर दिया था। नौकर के बारह रुपये मासिक अनिवार्य थे। महाराजिन अवश्य आती-जाती रहती थी। बाहरवाले जानें कि महाराजिन है। घरवाली को कुल मिला कर वर्ष में दो महीने भी रोटी पकाने से अवकाश न मिलता था। पड़ोस के सेवक यही कहा करते थे कि बड़े बाबू की मिश्रानी हमेशा बीमार ही रहा करती है बहू को रोज खाना पकाना पड़ता है, दूसरी महाराजिन का मिलना कठिन है, अपने संबंधी के अतिरिक्त दूसरे का पकाया खाना भी तो इनके यहाँ नहीं खाया जाता।

बड़े बाबू सिनेमा और थियेटर से हमेशा बचते। यदि कभी किसी प्रकार फँस जाते तो व्यय बराबर करते। कभी कभी तो खर्चे में पड़ोसियों का मुँह बंद कर देते। लोग इनकी आमदनी जानते न थे। जो इनका वास्तविक वेतन जानते थे, वे भी यह कहते—'घर के रईस होंगे। पिता माल छोड़ गया होगा।'

युद्ध

साम्य की प्रतिष्ठा के लिये जहां विश्व में अनेक साधन हैं वहां सब से बलवान साधन युद्ध भी है। भौतिक दृष्टि से युद्ध नैसर्गिक अनिवार्यता है और आध्यात्मिक दृष्टि से मानवता के मानसिक कच्चेपन का प्रतिफल है। भौतिक मानव उसको प्रकृति का धर्म समझ कर अपनाता है और आध्यात्मिक मानव उसे पूर्णता के अपूर्ण रूप का अवश्यंभावी निष्कर्ष मानता है। विश्व संपर्क के इच्छुक प्रवृत्तिवादी ऐहिक एषणा के विस्तार में जब दूसरों को अपने मार्ग में आड़े आये हुये पाते हैं तो युद्ध करते हैं। निवृत्तिवादी जब किसी को अपहृत और शोषित देखते हैं तो युद्ध करते हैं। युद्ध की प्रेरणा में रौद्र भी होता है और वीर भी। किसी

की छीना-झपटी देखकर 'रोष' होता है, जो आगे चल-कर स्थायी भाव 'क्रोध' से होता हुआ 'रौद्र' तक पहुँचता है, और अनिष्टकारी के अनिष्ट का साधन बन जाता है। केवल शौर्यप्रदर्शन उत्साह भी वीर रस तक पहुंचा सकता है जिसके व्यवहार पक्ष का परिणाम वैसा ही घातक और हिंसक हो सकता है।

एक बात यह न भूलना चाहिये कि वीर रस की निष्पत्ति के लिए भी विभाव की आवश्यकता है। केवल शौर्यप्रदर्शन का निदर्शन धनोपार्जन करने वाले नट का खेल हो सकता है वास्तविक युद्ध का कारण नहीं। अतएव वीर रस के लिए भी विभावन व्यापार में कोई ऐसी परि-स्थिति की अपेक्षा रहती है जो 'रोष' उत्पन्न कर सके। चाहे यह 'रोष' कितना हलका ही क्यों न हो। आदर्श के मूर्त रूप को झकझोरने वाले के प्रति क्षोभ होता ही है। यही क्षोभ कभी तीव्रता के कारण तिलमिलाहट और कभी 'रोष' में परिवर्तित हो जाता है। रोष का बहाव दो धाराओं में देखा गया है, उसका नैसर्गिक बहाव 'क्रोध' के लक्ष्य की ओर होकर रौद्र में क्रांति करने का होता है। परंतु कुछ जागरूक व्यक्ति भी इसी विश्व में होते हैं। अपनी निम्न वृत्तियों के संयमन का उन्होंने खूब अभ्यास कर रखा है,

उनके 'रोष' की साधारण गति में अवरोध रहा करता है और उसे उत्साह की ओर मुड़ना पड़ता है। यही उत्साह की मथानी उनके वीरता के रूप को सक्रिय कर देती है और संचित भाव प्रवरता लोकरक्षा और लोकहित की भावना के रूप में चमक उठती है उसमें वैयक्तिक स्वार्थ नहीं रहता। गीता में "युद्धस्व विगतज्वरः" ऐसी परिस्थिति के लिए कहा है।

विगतज्वर होकर युद्ध करना विरलों के लिए संभव है, युद्ध की ऊष्णता मानसिक साम्य को हिलाकर 'वीर' के स्थान पर 'रौद्र' को ला बिठाती है।

वीर रस के आश्रय में भी जब 'अहम्' से अथ होकर 'त्वम्' के लय में इति होती है तो वह रस भी रौद्र की भांति श्लाघ्य नहीं। व्यष्टि के विस्मरण में समष्टि का जो उदय होता है उसके लिए 'त्वम्' का शत्रु के रूप में विनाश जैसा आवश्यक है वैसा ही एक वचन 'अहम्' का भी कर्ता के रूप में लय होना परमावश्यक है। इसीलिए आदर्श कर्मकार को आत्म नकार का पाठ पहले पढ़ाया जाता है। योद्धा की आदर्श परिस्थिति वह है जिसमें वह आत्मविस्मरण और अहंकार विहीन होकर प्रतिपक्षी को वैरी न समझ कर दो महान विचारों के संघर्ष में अपने को उच्च विचार का,

किसी अमोघ शक्ति का अमोघ अस्त्र समझ कर युद्ध क्षेत्र में पिल पड़ता है। ऐसे योद्धा के लिए सुख-दुख, लाभा-लाभ, जयाजय, समान होते हैं।

युद्ध भी नितांत अहिंसाभाव से लड़ा जा सकता है। विरोधी शत्रु नहीं होता, और न विपक्षी घातक होता है। न जाने किस प्रेरणा से, किस गति से, किस संयोग से, दो व्यक्ति, दो राष्ट्र, दो जातियां परस्पर का निबटारा युद्ध क्षेत्र में करने के लिए उतर आतीं हैं। कर्त्तव्य की प्रेरणा से न्यायाधीश हत्यारे को प्राणदण्ड की आज्ञा देता है और फाँसी लगाने वाला उसे नितांत अहिंसाभाव से वृक्ष पर टाँग देता है। उसके मुँह पर टोप लगाते समय उसमें न क्रोध जागरित होता है और न पाशविक हिंसा। वह केवल कर्तव्य की प्रेरणा में सब करता है। अतएव यह भी संभव है कि युद्ध क्षेत्र में प्राण लेते समय घातक हत्यारा के बाने में न हो।

यह प्रश्न हो सकता है कि युद्ध को क्या कभी विश्व से मिटा दिया जा सकता है, इसका उत्तर 'हां' और 'नहीं' दोनों में ही है। जिस समय विश्व का समूचा मानव समाज उदात्त गुणों का प्रतिरूप हो जायगा उस समय उसको परस्पर मिल कर रहने में पाशविक बल प्रयोग की आव-

श्यकता न रहनी चाहिए। तब युद्ध केवल इतर प्राणियों का धर्म रह जायगा। प्राणियों की विकासोन्मुखी गति में जो विषमता है उसके कारण मानवता में भी बुद्धिवैषम्य रहेगा ही। यह उनके अनमिलवर्त्तन का सब से सबल कारण है। वैषम्य में, साम्य की अवतारणा में युगों के अवकाश की आवश्यकता है, और वह कल्पित साम्य जब आवेगा तब तक विश्व क्या का क्या हो जायगा यह कौन अनुमान कर सकता है।

हां, मानवता के विकास के साथ साथ युद्ध के रूप में परिवर्तन अवश्य होता जायगा। विज्ञान की उन्नति से लाभ उठाकर हिंसा और ध्वंस की भावना को जो इतना आगे बढ़ा दिया गया है कि उसकी भी बलवती प्रतिक्रिया होगी, चिन्ह अभी से दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

युद्ध की प्रेरणा में वैयक्तिक स्वार्थसाधना, चाहे आध्यात्मिक ही क्यों न हो, राष्ट्र की महत्वाकांक्षा, चाहे वह साम्राज्यवाद के प्रसार वाली हो अथवा व्यापार के खपत के लिए हो; जाति की विस्तार लिप्सा, चाहे वह धर्म्मप्रचार के हेतु हो, चाहे सिद्धांतप्रचार के लिए; और वर्ग विशेषों की अधिकार लोलुपता, चाहे वह धनिक की हो, चाहे श्रमजीवियों की हो, चाहे कृषकों की हो, चाहे

बाध्य करना चाहता है। सत्य की माया युद्ध की जननी होती है। सत्य के अंशों में जब विरोध दिखाई देता है और दो मस्तिष्क अपने अपने सत्यांशों को ही पूर्ण सत्य समझ बैठते हैं तभी झगड़ा होता है। मन की असावधानी, चित्त का उतावलापन, बुद्धि की विवेकशिथिलता, तथा असहिष्णुता और अहंकार का कट्टरपन ही इस विश्व में विरोध की नींव है, जिसके ऊपर युद्ध का पादप पनपकर हरा हो जाया करता है।

श्रीकृष्ण आदर्श-पुरुष

जब हम भगवान को सर्वगुण सम्पन्न कह कर पुकारते हैं तब हम उस परममहाशक्ति में सारी शक्तियों का पूर्ण स्वरूप देखने का प्रयास करते हैं। यदि कोई व्यक्ति दयालु है, दयावान् है, कारुणिक है, अहिंसक है, तो वह बड़ा अवश्य है। परंतु जिस दूसरे व्यक्ति में इन गुणों के साथ साथ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इत्यादि प्रसिद्ध दुर्गुणों का गहरा अनुभव भी है वह उससे भी बड़ा है। मनुष्य जीवन की पूर्णता के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक प्रकार के अनुभवों से होकर निकले। यदि वह संसार के गिनाये हुये दुर्गुणों का कोई अनुभव नहीं रखता तो अच्छे गुणों से युक्त होने पर भी अधूरा रहेगा। जिस प्रकार अहिंसा

व्रतधारी को अत्याचारों को सहर्ष सहन करने वाले व्यक्ति के आचरण से स्फूर्ति मिलती है उसी प्रकार दूसरे को अत्याचारों द्वारा पीड़ित देखकर परदुःख-कातर व्यक्ति की तिलमिलाई हुई भावना, जिसका अंतिम स्फुरण क्रोध भाव से मिलता जुलता है, अपना विशेष महत्व रखती है। भारत-वर्ष ने टालस्टाय की भाँति कभी भी एकंगे आदर्श को ग्रहण नहीं किया। यहां प्रलयकारी और विनाशकारी सत्ता [रौद्र] का वही सम्मान और आदर है जो, अखण्ड शक्ति की संवर्धिनी और संस्थापिनी सत्ता [विष्णु] का।

मनुष्य के निर्माण में कोई न कोई दैवी स्फुलिंग निहित अवश्य है। उसी स्फुलिंग का क्रम-विस्तार उसे दैवी ही नहीं देव बना देता है। विश्व के शासन-क्षेत्र में भगवान् की भाँति, इसी लिये वह अपना अधिकार भी शासन करने का समझता है। वह प्रकृति पर विजय पाने की निरंतर चेष्टा करता है, वह अपने से नम्र सृष्टि को शासित करता है। शासन के सम्यक् निर्वाह में प्रत्येक 'गुण' का यथा स्थान प्रयोग होना ही होगा। कामातुर क्रौंच पक्षी को व्याध द्वारा वध किये जाने पर वाल्मीकि जी क्या भगवान् द्वारा दण्ड की योजना की प्रतीक्षा करते हैं। कदापि नहीं। वे नियम को अपने हाथ में लेकर निर्णायक का स्थान

ग्रहण करके तुरंत कह बैठते हैं—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इस वाणी में यद्यपि क्रोध रौद्र रस के स्वरूप में अपने विभाव, अनुभाव, संचारीभाव के साथ नहीं दिखाई देता परंतु एक ऐसे ओजपूर्ण महान् भावविस्फोट का मूर्त्तिमान स्वरूप अवश्य दृष्टिगत होता है जो रौद्ररस ही का समकक्ष है। वास्तव में वाल्मीकि जी क्रोधी नहीं। विश्व की सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यक्ति के साथ उनका अखंड स्नेह था। इसीलिये कहीं पर वे अन्याय नहीं देख सकते थे।

यदि सारा विश्व थप्पड़ खाने पर दूसरा गाल समक्ष करने के लिये हमेशा उद्यत हो जाय तो थप्पड़ मारने वाले कहां से आवेंगे ? तथा उनकी अनुपस्थिति में गाल फेरने वाले की क्रिया का सौंदर्य्य ही क्या रह जायगा ?

मैंने ऊपर जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि अपने को पूर्ण विकसित करने की धुन में मनुष्य संसार के बुरे से बुरे काम करे। कदाचित् साक्षात् अनुभव से ही तीव्र और चिरस्थायी भाव अंकित हो सकेंगे' यह अवश्य ठीक है परंतु दूसरों की अनुभूत भावनाओं की तीव्र अभिव्यंजना के जागरूक अध्ययन से मनुष्य

उतना ही सीख सकता है। व्यभिचार के दोषों की जानकारी के लिए यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य व्यभिचारी हो परंतु संसार में बहुत से व्यभिचारी हैं जिनके अनुभव का सजग परिशीलन हमारी जानकारी को पूर्ण कर सकता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि पशु-सृष्टि से ही मानव विकास के रहस्य में तिरोहित हैं। ये गुण अथवा दुर्गुण पशु समय से हमारे साथ लिपटे चले आते हैं। इन भावनाओं का उद्रेक हृदय में एक विशेष प्रकंपन उत्पन्न करता है। हमारे शरीर निर्माण में इनके प्रत्युत्तर शील जो अवयव हैं वे शरीर संगठन के अत्यंत आवश्यक अंग हैं। बहुधा देखा गया है कि उन अवयवों के निकाल देने से शरीर की सारी स्फूर्ति ही नष्ट हो जाती है। एक नपुंसक किये हुये बैल अथवा घोड़े से साधारण बैल अथवा घोड़ा कहीं अधिक सतेज और बली होता है। अतएव इन प्रत्ययों की उपस्थिति स्वीकार करते हुये उनकी सम्यक् मंत्रणा अपेक्षित है।

अनुकूल वातावरण पाकर ये अकड़ उठेंगे, मन को मथ देंगे, इंद्रियों को बहिर्मुखी कर देंगे, परंतु विपश्चित पुरुष फिर निरंतर प्रयत्न द्वारा अभ्यास से मनको अपने

बस में कर लेगा, और इन प्रत्ययों के पाशविक स्वरूप को बदल कर उन्हें दैवी निरूपण प्रदान करेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि काम क्रोध आदि का जो निम्न स्वरूप अधोगामी वृत्ति को उत्साहित करने वाला है उसे ऊर्ध्व दिशा की ओर एक बार उठा देने की आवश्यकता है। पशु-वर्ती क्रोधादि को देववर्त्ती क्रोधादि बना देना है।

भगवान् श्रीकृष्णचंद्र को षोड़श कला युक्त अवतार कहा है। भगवान् के जितने अवतार इनके पूर्व हुये उनमें से किसी में भी भगवत् शक्ति का इतना स्फुरण नहीं हुआ जितना श्रीकृष्ण जी में हुआ है। एक प्रकार से इनका अवतार पूर्ण अवतार कहा जाता है। यदि हम आदि से अंत तक श्रीकृष्ण जी के चरित्र का अनुशीलन करें तो हमें इसकी सफलता प्रमाणित हो जायगी। दैवी और मानवी गुणों का ऐसा अनूठा सामंजस्य शायद ही कहीं मिले। कृष्ण जी पैदा होते हैं और नंद जी के यहाँ पहुँचाये जाते हैं। यमुना उनके पिता को मार्ग प्रदान करती है। धीरे-धीरे नंद के यहां बालकृष्ण बढ़ते हैं। बालकों के साथ खेलते हैं, उनसे लड़ते भी हैं उनकी रक्षा भी करते हैं। रामचंद्रजी जीती हुई बाजी भरत से हार जाते हैं, श्रीकृष्णजी जबरदस्ती दूसरों को हराने का साहस रखते हैं। रामचंद्रजी एक वृद्ध

बालक के रूप में सामने आते हैं जिनकी प्रतिकृति कदाचित् ही संसार में मिल सके परंतु श्रीकृष्णजी शिशु बालक हैं। उनके ऐसे सुंदर-सुंदर लटों वाले, कधनी पहिने बहुत से लड़के दिखाई पड़ सकते हैं। हां, जहाँ अलौकिक कार्यों के प्रस्फोट का प्रश्न है वहां भगवान् रामचंद्रजी से वे किसी प्रकार पीछे नहीं। तृणावर्त्त, बकासुर, अघासुर को बिना प्रयास ही निधन करके अपने अलौकिक शौर्य का परिचय देते हैं। इसलिये बालकों की जमात की जमात उनके पीछे घूमा करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण जी मनुष्य भी हैं और देवता भी हैं। संसार की परिस्थितियों में पड़े हुये भी संसारी व्यक्तियों के ऊपर दिखाई देते हैं,

उनकी युवावस्था का प्रेम—इतिहास बड़ा ही स्वाभाविक और मनोरम है। गोस्वामी तुलसीदास जी यदि पूर्वजन्म प्रेम का आश्रय न लें तो गिरजा-अर्चन के समय की बगीचे की अनायास राम-सीता की प्रणयगाथा अस्वाभाविक और केवल काल्पनिक जचने लगे। परंतु कृष्ण-प्रणय-लीला में एक विशेष सौंदर्य है। उसमें मानविकता है। शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और विप्रलंभ की अनूठी अभिव्यक्ति कवियों ने इन्हें आलंबन मानकर की है। प्रेम का उदय कैसा स्वाभाविक है। राधा जी के

साथ साथ घूमते हैं और मिलते हैं। उन्हें चिढ़ाते हैं और उनसे लड़ भी बैठते हैं। गाय दुहते समय एक छाँछ दोहनी में डालते हैं तो एक छाँछ से प्यारी का मुँह छीप देते हैं। इसी हास विलास, खेल कूद के बीच में ऐसे सच्चे प्रेम का स्फुरण हो जाता है कि राधा और कृष्ण एक दूसरे के बगैर देखे चैन नहीं अनुभव करते हैं। इस मानविकता के साथ हम देखते हैं कि जहाँ अलौकिकता के सन्निवेश की आवश्यकता है, कृष्णजी के चरित्र में वह भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। यदि लौकिक कार्य के लिये भगवान् रामचंद्रजी सीता का परित्याग करते हैं और अपने पर सारा कष्ट मोल लेते हैं, कृष्णचंद्रजी भी लोकोपकार के लिये कंस के निधन को आवश्यक समझ कर रोती हुई गोपिकाओं को छोड़ सार्वजनिक कार्य में रत हो जाते हैं।

कुरुक्षेत्र में जो अनूठा उपदेश कृष्ण जी ने अर्जुन को दिया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे निरानिर सिपाही अथवा शृंगारिक ही नहीं थे। उनमें वह तत्वज्ञान, वह सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है जिसके द्वारा सारा संत संसार उपकृत हुआ। ऐसी कोई बात हमें रामचंद्रजी के चरित्र में नहीं मिलती। उनके उपदेशों में केवल सिद्धांत-विश्लेषण ही नहीं हैं क्रिया जगत में उनका क्या उपभोग है यह

भी निर्धारित किया गया है। सिद्धांत पक्ष और व्यवहार पक्ष उनकी दृष्टि से एक दूसरे के पर्याय हैं। वास्तव में उस सिद्धांत का क्या मूल्य है जो केवल पुस्तक में लिखे रहने की ही वस्तु है।

गीता पर किये गये आक्षेपों का उत्तर और प्रत्युत्तर देने का इस छोटे से लेख में स्थान नहीं है। कृष्णाजी के चरित्र को आदर्श मानव चरित्र हम केवल इस लिये मानते हैं कि वे मनुष्यों के अच्छे से अच्छे गुणों को रखते हुये भी देवतुल्य हैं। हम उनको अपने में से एक पाते हैं और अपने अनुकरण करने की चीज भी पाते हैं। निरानिर—'भगवान्' जिसमें मानवी 'कमज़ोरियों' का आभास नहीं मिलता है, हमारे किसी काम का नहीं क्योंकि—हम अपनी 'कमज़ोरियों' के हर घड़ी शिकार होने के कारण उनमें और अपने में बड़ी भारी खाई अनुभव करेंगे जिसके ऊपर सेतु-रचना करना हमें अपनी शक्ति के परे प्रतीत होगा। हमें वही ऊपर उठा सकता है जो हमीं में से बढ़ा हुआ है। जो मानवीय और दैवी गुणों को ऐक्य भाव से सम्मिलित किये हुये हो उसी को देखकर हम उन्नति कर सकते हैं। वही हमारी काव्य-भावना का आलंबन है और उसी पर हमारा हृदय टिकता है। कृष्ण भगवान् को इसीलिये हम बहुत बड़ा व्यक्ति समझते है।

पल्हड़

पल्हड़ का नाम वैसे तो मोहनदास था, परंतु उसकी असाधारण परिस्थिति के कारण लोग उसे पल्हड़ कहते थे। निर्माण करते करते श्रांत होकर मानो प्रकृति ने अपने मन बहलाने के, अवकाश के समय, मानवता की एक ऐसी रूपरेखा गढ़ी हो जो शिथिल सांचे से निकलकर अपने ढिलमिल आकार को सम्हालने में असमर्थ हो। शरीर के अनुकूल ही उसकी मानसिक अवस्था भी आयु की व्यवस्था और क्रम की पकड़ से दूर-दूर भागती थी। उसकी आयु चौवीस वर्ष के लगभग होगी परंतु उसका ज्ञान पाँच वर्ष के बालक की भाँति असंयत और स्थूल था। दूसरों की सहायता से वह कपड़े पहनता और दूसरों की सहायता से

भोजन करता। यदि दैवात् कोई सहायक न मिलता तो वस्त्रों के लपेटने में जो परिश्रम पल्हड़ करता वह उसकी व्यस्त मुद्रा को और अधिक व्यग्र कर देती। धोती एक ओर से लिपटती और दूसरी ओर से शिथिल होती जाती। वस्त्र परिवेष्टन का कार्य तो संपादित होता जाता परंतु उसका लक्ष्य नष्ट ही रहता था। अनावृत अंग की ओर पल्हड़ का ध्यान भी न जाता था। कुरते की बाहों में पैर डालने का प्रयास करना, पायजामे में हाथ डालने लगना, कोट के ऊपर कमीज पहनने लगना, उल्टे जूते पहनना, ये सब बातें तो साधारण थीं, पर यदि भोजनों के समय उसे कोई खिलाने वाला न मिलता तो वह अपने हाथ पैर बेतरह सान डालता। नाना प्रकार के परोसे हुये व्यंजनों में से किसी एक वस्तु को खाकर उठ आता।

युवावस्था के समस्त चिन्ह उसके विग्रह पर थे। धनी के घर जन्म लेकर भी वह भदेसू रूप और फूहड़ कपड़ों में ही दिखाई देता था। पाँच वर्ष से लेकर नौ वर्ष वाले बालकों के साथ यह खेला करता था। ये इस पर ईंटे भी बरसाते थे और चिढ़ाते भी थे। फिर भी इन्हीं का साथ इसे रुचि-कर था। इस सेना के कुछ नटखट लघु मानव इसके वस्त्र खोल खोल कर भागते थे। उस समय इसके मुख से क्षोभ

की जो चीख निकलती थी और मुँह को जिस पाशविक रूप से फाड़ कर यह दौड़ता था उससे डार्विन महाशय के सिद्धांत की सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण सामने आ जाता था। पल्हड़ में नाद था किंतु बोली न थी। 'गूं गां' और कभी-कभी वेगसंपन्न चीख, कभी-कभी अट्टहास की ध्वनि, कभी-कभी रोने का स्पष्ट शब्द, और अधिक से अधिक कभी-कभी अपने साथियों को प्रसन्नता से संबोधित करने वाली कंठ से निकली हुई पतली सीटी, बस यही उसके नादयंत्र की घोषणाएं थीं। नादरूपी हंस पर आरूढ़ होकर उसका संयमन करने वाली वाणी रूठ कर अपने वाहन के परों के साथ कहीं उड़ गई थीं, वेचारा लुंज पुंज हंस वहीं पड़ा तड़प रहा था।

पल्हड़ में भाव व्यक्त करने के मानवता के और साधन भी कुंठित थे। जिह्वा ने तो नाद से असहयोग कर ही रक्खा था, साहित्यशास्त्रियों के गिनाये हुये सात्विक भावों के दर्शन भी कदाचित् ही होते थे। कभी-कभी किसी को डराने के लिये पल्हड़ अपनी भौंहों को शीघ्रता के साथ ऊपर नीचे संचलित करता था, परंतु वह केवल एक शाखा-मृग की भाँति कभी-कभी अत्यंत प्रसन्न होकर अपने दोनों करतलों को सिर के ऊपर उठाकर उन्हें परस्पर प्रता-

ड़ित करते हुये अपने घर के सामने वाले मार्ग में इधर से उधर और उधर से इधर ठीक जेठ के मध्याह्न में दौड़ा करता था। इस समय इसके मुख से केवल 'हा' 'हा' का शब्द निकलता था। सेवक फुसला कर भीतर ले जाते थे। चौवीस वर्ष के युवा शरीर में पाँच वर्ष के बालक का यह अभिनय, यदि कोई बाहरी व्यक्ति देख लेता तो वह इसे पूर्ण विक्षिप्त समझ कर हँसने लगता, परंतु घर वाले यह भेद जानते थे।

वालकों से खीजकर अथवा आनंदातिरेक के कारण यदि कभी पल्हड़ अपने निवास से होकर मार्गांतर में पड़ जाता तो घर स्वतः लौट आना उसके बूते की बात न थी। स्थानपरिज्ञायिनी वासना उसमें थी ही नहीं और यदि होगी भी तो उसे सजग होने के लिये भावों की भड़भड़ाहट में कोई अवकाश न था। वह एक ही ओर कोसों दौड़ा चला जाता। हाँ, यदि मार्ग में कोई विचित्र घटना घटित हो जाय, हाथी ऊँट इत्यादि कोई भयावह पशु पड़ जाय, अथवा सामने भौंकता हुआ श्वान मुँह फाड़ कर खड़ा हो जाय, तो वह त्रस्त होकर दूसरी ओर मुड़ सकता था। अन्यथा एक ही ओर, ठीक नाक की सीध में, यदि मार्ग वास्तव में सीधा है, दौड़ता चला जाता था। सेवक बड़ी कठिनता से किसी जलाशय के निकट बैठा हुआ उसे पकड़ पाता था।

भागते हुये सहसा रुक जाने का पल्हड़ के लिए एक और कारण भी कभी-कभी देखने में आता था। चमकता हुआ पैसा मार्ग में पड़ा हो और वह उसे देख ले! अच्छे से अच्छे वस्त्रों और भोजनों की ओर से उदासीन रहने वाला पल्हड़ द्रवित हो जाता था। त्यागी का महात्याग डिग जाता था। सारा क्रोध, सारी दौड़धूप की तिलमिलाहट न जाने कहाँ तिरोहित हो जाती थी। झट झुक कर उसे उठा लेता था। पक्षी उड़ना भूल जाते थे, कुत्तों का भौंकना बंद हो जाता था। पैसे को हाथ में लेकर आस-पास के व्यक्तियों को देखने लगता। कृतज्ञता की, दैन्य की, औत्सुक्य की, वैचित्र्य की, जिज्ञासा की, और इसी प्रकार के अन्य भावों की मिश्रित व्यंजना से उसके फैले हुये मुख और चमते हुये नेत्र जगमगा उठते थे और दर्शक समझ जाता था कि पल्हड़ बड़ा प्रसन्न है। वह दोनो हाथों से पकड़ कर पैसे को नेत्रों के निकट ले जाता और फिर मुस्कराता और फिर अहंभाव से दूसरों की ओर देखता। कौतूहल और लोभ बारी-बारी उठते और विलीन होते। इनकी चकाचौंध में कपोलों का आवरण बदलता रहता। पल्हड़ को यह कभी न सूझता कि पैसे को जेब में रख ले। वह उसे धोती में बाँधने लगता। किसी क्लिष्ट विचार गुत्थी को सुलझाने

में जिस प्रकार एक दार्शनिक की मुद्रा उलझी सी दिखाई देती है, अथवा भावोत्कर्ष को प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिए जिस प्रकार कुशल कवि की प्रयत्नशील मनुहार उपयुक्त कल्पना के अन्वेषण में व्यस्त दिखाई देती है, उसी प्रकार की आड़ी टेढ़ी रेखाएं पल्हड़ के मुख पर पैसे को गाँठ में बांधते समय खिंच जाती थीं। अल्हड़ता भाग खड़ी होती थी, प्रयत्न-प्रस्वेद ललाट पर मुक्ताकण बिखेर देता था। इस प्रकार जो गाँठ बँधकर प्रस्तुत होती थी, मोटी भद्दी ढीली मुट्ठी की भाँति, वह देखने की ही वस्तु थी। उपादेयता उसके शिथिल आकार से फिसल कर पैसे के साथ नीचे गिर जाती थी। बेचारा पल्हड़ इसे जान भी न पाता था। और यदि कहीं पैसे की खनक सुनकर उसका ध्यान उधर आकृष्ट हो गया तो वह उसे चट उठा कर दूसरी गाँठ बाँधने लगता था। पहली को खोलने के लिये न उसके पास समय था और न बुद्धि। वह चलते फिरते स्वयं खुल जाय तो खुल जाय।

पल्हड़ का शरीर न छोटा था और न लंबा। रंग गेहुँवा था, अंधियारी को पकड़े हुए। पैर पतली पिंडुरी और दुबली जंघा वाले थे। ऊपर का भाग अधिक मांसल था। एक विचित्र विषमता सर्वत्र दिखाई देती थी। कहीं

कहीं की मांस पेशियां बिलकुल लटक आई थीं। कई दिशाओं की ओर शरीर कुछ भसका हुआ सा दिखाई देता था। ठोढी दुहरी और ललाट भी दुहरा था। नाक नीचे फैलकर ऊपर की ओर चिपट गई थी। नेत्र कोटरलीन छोटे और गोल थे। दोनों कानों की छुटाई बड़ाई में कुछ अंतर था, परंतु दोनों ही खड़े रहते थे। खोपड़ी बिलकुल चिपटी सपाट और पीछे की ओर एकदम ढालू थी। उसका आकार भी बहुत छोटा था। ओठ मोटे और काले थे और मुँह अधिक फटा हुआ था। ग्रीवा के ऊपर का समस्त भाग और मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत स्थूल और बोझीला था। उसके एक बहिन भी थी परंतु वह अपने कुल की मर्यादा के अनुकूल थी। ऐसा कुरूप व्यक्ति तो कदाचित् ही किसी ने देखा होगा। पल्हड़ का मामा उसे दानव कहता था। परंतु बड़े घर के लाड़ले पुत्र को दूसरा कोई कुछ कहने का साहस न रखता था। माता पिता का अकेला पुत्र था। वे उसे प्यार करते थे।

पल्हड़ कभी कभी पृथ्वी पर बिखरे हुये चने के दाने बीनकर चबाने लगता था। स्वच्छ तश्तरी में रक्खे हुये अनार के दानों को देख कर दूर भागता था। जेठ के दिनों में दिवाल से सटे हुये वृक्ष से कूद कर घर की छाया में

टिटकारती हुई गिलहरी की ध्वनि में ध्वनि मिलाता और कभी कभी ताड़ी बजाकर उसे भगा देता। कटहरे में फँसे हुये चूहे की निकली हुई पूँछ को घसीट कर क्रूरता के साथ तोड़ देता। लोग मना करते रह जाते। मूसा चिचियाकर चुप हो जाता।

पल्हड़ झंझावात का वेग लिये हुए मस्ती के साथ घर में भी चलता था। सजे हुये कमरों के प्रदर्शन अस्तव्यस्त हो जाते। घड़ी की टनटनाहट कभी बड़ी देर तक खड़े-खड़े सुना करता; और कभी माता पिता के दुलार भरे संबोधनों की ओर ध्यान भी न देता। वह कदाचित् ही हंसता और कदाचित् ही रोता था। उसके भीतर के किसी भी भावावेग को सरलता से ताड़ लेना कठिन था। छोटे-छोटे वच्चों के साथ खेलते हुये भी यह उनकी भाँति तितलियों के पीछे नहीं दौड़ता। गौरइयों के पकड़ने के लिये हाथ नहीं लपकाता और न उनके उड़ जाने पर खिलखिला उठता था। यदि वेग से कोई उसे मारे तो वह चिल्ला अवश्य पड़ता था परंतु वैसे किसी रसपरिपाक का प्रदर्शन उसमें दिखाई न देता था। पुरुष जाति के लिये सबसे बड़ा खिंचाव नारी सौंदर्य कहा जाता है पर पल्हड़ इसका अपवाद था। वह पुरुषत्वहीन पुरुष था। रतिभाव यदि

अलक्षित रूप में जागरित भी होता होगा तो भी स्थायी-भाव की परिस्थिति तक वह कभी नहीं पहुँच सका। इसी प्रकार घृणित से घृणित पदार्थ उस में जुगुप्सा उत्पन्न करने में असमर्थ थे। उसे चाहे सुगंधित सुरभित कोठी में खड़ा कर दीजिये अथवा पुरीष घर में, एक रस से खड़ा रहता था। बड़े से बड़े संबंधी और निकट से निकट स्वजन के निधन में वह कभी नहीं रोया, क्योंकि वह किसी से परिचित न था यद्यपि उससे सब लोग परिचित थे। बड़ी से बड़ी आनंददायक घटना में होली, दिवाली, दशहरा इत्यादि बड़े बड़े त्योहारों, विवाह, भोज इत्यादि बड़े बड़े उत्सवों में, जब कि उल्लास और आनंद घर में बहा-बहा फिरता है, पल्हड़ में कोई परिवर्तन न दिखाई देता था। हाँ, गहरी झुंझलाहट, तीव्र क्षोभ, उद्वेग का सहसा झोंका, उन्माद की एक टेढ़ी मेढ़ी लहर विद्युत् धारा की भाँति बहुधा उसे थोड़े काल के लिये झंकृत कर देती थी।

बहुमूल्य रेशमी वस्त्रों में पल्हड़ उसी उदासीनता से घूमता जिस उदासीनता से पंकिल मलिन वस्त्रों में घूमा करता था। यह अवश्य था कि यदि उसका वस्त्र भड़कीला और चमकदार होता तो वह विशेष कौतूहलपूर्ण दिखाई देता। प्रकृति के शीतोष्ण प्रभाव से भी वह मुक्त सा था।

वृष के सूर्य और जेठ की लू में वह कम्बल ओढ़ कर घंटों सोया करता; प्रस्वेद के निर्झर बह निकलते, कंबल भीग जाता, परंतु पल्हड़ का सोना न रुकता। इसी प्रकार माघ की कड़ाके की सरदी में महीन कुरता पहन कर बाण सा लगने वाली वायु के झोंकों में खड़ा-खड़ा सिसियाया करता और दाँत कटकटाता। जब किसी की दृष्टि पड़ती तो पल्हड़ को भीतर लाकर कपड़ा पहनाया जाता। चलते फिरते न जाने कितने व्रण इसके शरीर में लग जाते पर उनकी पीड़ा इसे सताती है ऐसा अनुमान करना बड़ा कठिन था। उसकी आकृति से इसका पता बिलकुल न लगता था। एक दिन न जाने क्यों घर के पले हुये पिल्ले ने पल्हड़ के पायजामे को मुँह से पकड़ लिया। अत्यंत भयभीत होकर पल्हड़ भागा। पिल्ला घिसलता हुआ बड़ी दूर तक चला गया। पायजामे के किनारे का वस्त्र फट कर पिल्ले के मुँह में रह गया। पल्हड़ भागता ही चला गया। उस दिन से वह इस पिल्ले से काँपने लगा। घर के सब लोग इसके नाम से उसे डराने लगे। दूध पिलाना हुआ, वस्त्र पहनाने हुये, औषधि खिलानी हुई, जहाँ कहीं पल्हड़ ने थोड़ी सी भी आनाकानी की झट यही पिल्ला ले आया गया। इसे देख कर एक चीख के साथ पल्हड़ सीधे बैठ जाता था। कुछ

काल तक यह अभिनय निरंतर होता रहा। एक दिन एक इक्के से दबकर वह पिल्ला मर गया। सेवकों ने रक्तरंजित श्वान-शावक के शव को पूछ पकड़ कर आँगन में लाकर रख दिया। घर भर दुखी था। पल्हड़ भी उसे देखने पहुँच गया। पहले तो उसे इस परिस्थिति में देखकर वह और डरा। थोड़ी देर में अपने पैर से उसे धीरे-धीरे स्पर्श किया। फिर थोड़ा ठेला। जब वह फिर भी न उठा तो अपने पायजामे की कोर उसके मुंह के पास की। यह आकर्षण भी निष्प्रयोजन सिद्ध हुआ। पल्हड़ के मुख पर कुछ प्रसन्नता झलकने लगी। तुरंत ही उन्माद का एक ऐसा झटका लगा कि पल्हड़ का मुंह तमतमा आया। वह पिल्ले की पूछ को मुंह से पकड़ कर भागा, उसका शव पूछ के बल पर लटक रहा था। कुरता रक्त से भीग गया। घरवाले घबराकर भागे। अपरिचित लोग भयावह मानवीय राक्षस को श्वान-भक्षण में रत समझ कर डर गये। सेवकों ने शीघ्र ही पल्हड़ को पकड़ लिया। चिल्लाने में पूछ मुंह से छूट गई। पल्हड़ के जीवन की यह एक विचित्र घटना थी। इस प्रकार की बात उसने फिर कभी नहीं की। कोई मनस्तत्ववेत्ता ही इस घटना की समीक्षा करके मानवस्वभाव से इसका साम्य स्थिर कर सकता है।

पल्हड़ के पिता बड़े धनी थे। उन्होंने अपने इस पुत्र के निरोग करने के लिये पुश्कल धन व्यय किया था। परंतु लक्ष्मी का बरदान और बलिदान दोनों ही पल्हड़ को सुधारने में असमर्थ सिद्ध हुये। अंत में उन्होंने यही निश्चय किया कि उसकी अनैसर्गिक परिस्थिति से अपने घर को और अपने व्यवहार को मिला दे और इस सामंजस्य के करने में वह सफल भी हुआ। पल्हड़ को शिक्षित करने का प्रयास भी व्यर्थ प्रमाणित हुआ। मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने पल्हड़ की परीक्षा कई दिनों तक रह कर की। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उसमें अभिलाषाएं और आकांक्षाएं हैं अवश्य, पर वे सुषुप्त हैं। साधारणतया मानवीय एषणाएं सजग बुद्धि की नियंत्रणा और परिचालना के अधीन रहती हैं। परंतु पल्हड़ की सजगता में संस्कारों की सांस्कृतिक प्रेरणा न थी। पशुओं की भाँति उसमें केवल जीवपिंड था जो बहुत भीतरी तलों में बैठा-बैठा गति प्रदान किया करता था। बाह्य संपर्क की प्रतिक्रिया आभ्यंतर को स्पंदित न कर पाती थी अतएव अनुभूतियों की कारा रिक्त थी। पल्हड़ में तादृश भावनाएं और उसके कारण उग्र मनोवेग केवल कुछ इने गिने रूप में दिखाई देते थे। उनमें संकुलता बिलकुल न थी।

नैसर्गिक रूप से विकसित मनुष्यों में वाह्य गतिमत्ता की जो प्रतिक्रिया होती है प्रत्युत्तरशील हृदय का वह प्रत्यय पल्हड़ में नितांत स्थूल था।

वड़े वड़े डाक्टरों ने कई बार की परीक्षा के पश्चात यह निश्चय किया कि पल्हड़ के ऐहिक निर्माण में विकार है। एक मोटा मांसपिंड स्पंदनशील तथ्य को परिवेष्टित किये था। इसके कारण प्रकंपन की पारस्परिक एकतानता में व्याघात उपस्थित था। इस विकार का सुधार प्राणघातक था, अतएव डाक्टरों ने पल्हड़ को निरोग करने का साहस न किया।

एक दिन पल्हड़ की हृदयगति सहसा रुक गई। मानो उसने स्वयं अपने को अच्छा कर लिया। कम-से-कम इतना तो प्रमाणित कर ही दिया कि अन्य मानवों की भाँति वह भी मर्त्य था। माता पिता भी रो रो कर चुप हो गये।

———

पश्चात्ताप

पाप की परेशानी का दूसरा नाम पश्चात्ताप है। वह बुराई की थकावट है। तीव्र प्रतिक्रिया का वेग होने के कारण उस में पवित्रता के दर्शन होते हैं। वास्तव में वह पाप और पुण्य की ऐसी पतली मेंड़ है जिसकी फिसलन दोनों ही ओर हो सकती है।

पश्चात्ताप आदर्श का सच्चा भाई है। वह आदर्श का ही पदचिन्ह है। जितना ही बली जोशीला और सशक्त आदर्श होता है उतना ही गहरा पछतावा होता है। परंतु पकड़ के लिए जैसे आदर्श नीहारिका की भाँति अग्राह्य है, फिसलने वाले के लिए पूर्व अनुभूत पश्चात्ताप भी वैसे ही बेकार है। काम और पश्चात्ताप दोनों अदेह

हैं। एक पाप के पहले उत्पन्न होता है दूसरा पाप के बाद में। परंतु दोनों क्षणिक हैं दोनों अस्थायी हैं।

अपने जीवन-व्यवहार के लिए मनुष्य कुछ स्वरूपों को स्थिर किये रहता है। इन स्वरूपों का निरूपण उन नाना परिस्थितियों का निष्कर्ष होता है जिस में वह विचरण करता है। उसका व्यवहारशास्त्र विश्व की कसमसाहट और संघर्ष से फूटकर निकलनेवाला अंकुर है जो निरंतर बढ़ता रहता है। परिस्थितियां बदलती रहती हैं। नई प्रकार की कसमसाहट, नये प्रकार का संघर्ष और फिर नया व्यवहार व्यवस्था देता रहता है। इस दृष्टि से जिसे आज हम बुरा कहते हैं वह कल हमारे ही द्वारा अच्छा कहा जा सकता है और आज की इच्छी व्यवस्था कल बुरी हो सकती है।

पश्चात्ताप भी अपना आदर्श मनुष्य के आदर्श के साथ बदलता रहता है। जिस काम के करने से आज हमें पश्चात्ताप होता है संभव है कल उसके लिए प्रसन्नता हो। आज वह कार्य पाप का भाईबंद है कल वही पुण्य का सगा हो सकता है। आज हम उससे घृणा करते हैं कल उसी का अभिनंदन करेंगे।

परंतु यह न भूलना चाहिए कि पश्चात्ताप हृदय का

एक प्रत्यय है, वह चिंतना और तर्क नहीं। वैसे तो हृदय के सुदृढ़ तलों से निकले हुए उद्गार हमेशा चिंतना-निर्मित होते हैं—चाहे वह निर्माण कार्य किसी समय हुआ हो— परंतु जब तत्कालीन चिंतना का मेल एतत्-कालीन चिंतना से नहीं खाता तो हृदय उद्गार भी पिछड़ा हुआ रहता है। ऐसी दशा में बहुधा पश्चात्ताप का उद्गार भी बेमेल होता है।

बात यह है कि हृदय हमेशा मस्तिष्क का अनुगामी होता है। इससे यह न समझना चाहिए कि वह हर क्षण चिंतना का कहना करता है, परंतु वह चिंतना-निर्मित अवश्य होता है। एक बार जो विचार भावनिधि के कोष हो जाते हैं वे वहाँ क़ैद हो जाते हैं। वे सारे भावरूप में घुलमिल जाते हैं। यदि सरलता से कोई उन विचारों को हृदय की नसों से पृथक् करना चाहे तो नहीं कर सकता। मस्तिष्क निरंतर प्रगतिशील है। उसकी विचारधाराओं का निरंतर विकास होता है। ऐसी दशा में पुरानी विचारधारा ने जिन भावनाओं के मृद्-भांडों को पकाया है वे फिर पकाये नहीं जा सकते। उन्हें तो फोड़ कर नये बनाना ही पड़ेगा। इस विध्वंस और पुनर्निर्माण कार्य में समय लगता है। इसी लिए

हृदय के प्रत्यय समुन्नत चिंतना की दृष्टि में पिछड़े हुए दिखाई देते हैं।

बस ठीक यही बात है कि कई बार हमारे पश्चात्ताप के उद्गार बनावटी होते हैं। कारण यह है कि एक समय हमने एक काम को घोर पाप समझा। अतएव धीरे-धीरे हमने उसके प्रति घोर घृणा उत्पन्न कर ली। जब हमसे असावधानी के कारण वही काम हो जाता है तो हम घृणा की तीव्रता के कारण उतना ही तीव्र परिताप और पश्चात्ताप अनुभव करते हैं। आज हमारी चिंतना में, उस कार्य के प्रति, वह विराग नहीं है। हम उसे अब पाप नहीं समझते। परंतु हृदय ने मस्तिष्क की इस नवीन उन्नति को स्वीकार नहीं किया। अतएव हमारी भावनाओं के वेग में अभी अंतर नहीं हो पाया। ऐसी दृष्टि से कार्य के बाद जो पश्चात्ताप आज उदय होगा उसमें तीव्रता तो पुरानी ही रहेगी परंतु मस्तिष्क को बिलकुल कुछ और सोचने के कारण इस उद्गार में बनावटीपन होगा।

पश्चात्ताप इसी लिए समसामयिक न होने के कारण कभी-कभी कट्टरता प्रदर्शित करता है और कभी-कभी चिंतना के अनुरूप होने के कारण जीवन के व्यवहारपक्ष को सुधारता है। पश्चात्ताप स्वतः निःसृत धिक्कार है जिसका

सरोकार मानवता से रहता है। मनुष्य के निजी चित्र की धूमिलता हटाकर पश्चात्ताप उस पर फिर रंग फेरने का प्रयास करता है। परंतु स्मरण रहे कि यह चित्र उसका स्वनिर्मित है।

पश्चात्ताप को दैवी प्रेरणा समझना देवत्व को अस्वीकार करना है। ईश्वर हमारे हृदय में पश्चात्ताप पैदा करता है यह कल्पना ईश्वर की शक्ति को सीमित करती। विश्व के पश्चात्तापों में कोई विशेष साम्य नहीं रहता। उनमें सार्वभौमिकता और चिरकालीनता का अभाव रहता है। यदि उन्हें ईश्वर की देन कहें तो ईश्वर के कार्यवैषम्य को समझाने के लिए और ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा के लिए नास्तिकता का सहारा लेना पड़ेगा।

जब हम अपने बनाये हुए अपने इतिहास से किसी क्षणविशेष में मेल नहीं खाते अथवा अपने लिए स्थापित आदर्श से परिस्थितिवश च्युत होजाते हैं तब जो उस इतिहास अथवा उस आदर्श के प्रति संवेदना उदय होती है वह पश्चात्ताप है। पश्चात्ताप को भावुकता के झंझावात के पश्चात् का चमचमाता हुआ सूर्य समझना भूल है। वह न निर्मल विवेक है और न अकाट्य तर्क। वह चिंतना का आकार है ही नहीं। वह तो भावजगत् का निवासी है। वह

तो आँधी के बाद का विरोधदिशागामी पवन है। किसी विचार अथवा किन्हीं विचारों ने कभी व्यवहार-आदर्श बनाया या विचारों की परंपरा ने हृदय को एक विशेष प्रगति दी। उस व्यवहारस्वरूप के प्रति आसक्ति बाद में उत्पन्न हुई। जहाँ उस स्वरूप से व्यवहार-स्खलन हुआ वहाँ प्रतिक्रिया हुई, ग्लानि हुई या पश्चात्ताप हुआ। यह सब हृदय की क्रियायें हैं। इन सब पर, होजाने पर, मस्तिष्क समीक्षा करता। पश्चात्ताप भी उसकी परीक्षा का एक विषय रहता है।

पश्चात्ताप से शक्ति मिलती भी है और खोती भी है। यदि आज की विचारधारा के अनुकूल हमारा पश्चात्ताप प्रकृत दिखाई देता है तो उससे पापविषयक हमारी घृणा को बल मिलता है। अतएव हमारी पुण्य प्रवृत्ति और भी शक्तिसंपन्न हो जाती है। परंतु मनुष्य में बहुत-सी राक्षसी वृत्तियाँ काफ़ी सबल हैं। वे उसके निर्माण में सन्निहित हैं। उन पर विजय पाना सरल नहीं है। 'विपश्चित' व्यक्तियों के निरंतर यत्न करने पर कर्मेंद्रियाँ मन को मथ ही देती हैं और मन को पतन की ओर बलात् घसीट ले जाती हैं। ऐसी दशा में मानव-स्वभाव के सहज धर्म को सहानुभूति के बिना समझे यदि पश्चात्ताप का गहरा कशाघात उस पर

लगता रहा तो उसकी स्फूर्ति मंद पड़ जाती है। उसमें घोर निराशा उत्पन्न हो जाती है । निराशा में एक विताड़ना होती है। कार्य में, गति में, निराशा से एक श्लथ-भाव आ जाता है। यह शैथिल्य बुरी वृत्तियों में ही शिथिलता नहीं उत्पन्न करता वरन् वह व्यक्ति के समूचे प्रगति भाग में अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है। चिरंतन पश्चात्तापी इस गत्यात्मक संसार के लिये किसी कार्य का नहीं रहता। वह धर्म जानते हुए भी उस ओर मूढ़मति होकर बढ़ न सकेगा। अतएव उन्नतिशील व्यक्ति को पश्चात्ताप की गति-विधि का नियन्त्रण करना चाहिए।

पश्चात्ताप को धर्म की प्रेरणा समझना भी ठीक नहीं। यदि धर्म का कार्य स्थितिधारणा है तो सब पश्चात्ताप इसमें योग नहीं देते। पश्चात्ताप-प्रदर्शन की प्रेरणा में धार्मिकता हो सकती है पर धर्म के स्वरूप में पश्चात्ताप का कोई विशेष महत्त्व नहीं। किये हुए कर्म पश्चात्ताप से विफल नहीं हो सकते। उनका बुरा परिणाम अवश्य घटित होगा। पश्चात्ताप कार्य-कारणवाले विश्व-नियम का उलङ्घन नहीं कर सकता। जो धर्म पश्चात्ताप को यह महत्त्व देता है उसकी नींव अंधविश्वास है। धर्म के नाम पर, भक्ति के नाम पर सब अनहोनी को होती हुई दर्शा देना मिथ्या-प्रचार के

बल पर धर्म-प्रचार करने का ढंग है और धर्म को अधर्म के आसरे आगे बढ़ाने की चेष्टा है। प्रगतिशील हिन्दू-धर्म में पश्चात्ताप को वह महत्त्व नहीं। पश्चिम के आज कितने ईसाई इस बात को मानते हैं कि मरते समय पश्चात्ताप कर लेने से स्वर्ग मिल जाता है। यदि अभी भी वे लोग यह मानते रहते तो क्षमा पत्रों का बिकना बंद न हो जाता।

मुसलमानों का 'तोबा' भी पश्चात्ताप ही है। यद्यपि साधारणतया प्रतिदिन की बातचीत में लोग 'तोबा' का प्रयोग उस समय भी करते हैं जब वे किसी कार्य से ऊब जाते हैं। परंतु 'तोबा' का यथार्थ भाव पश्चात्ताप ही है।

पश्चात्ताप का ध्यान नीचे की ओर अधिक और ऊपर की ओर कम होता है। पश्चात्तापी के ध्यान में पाप का ही रूप अधिक स्पष्ट होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह पाप करने के लिए पाप का ध्यान करता है। वरन् पाप से निवृत्त होने के लिए ही पाप के भीषण रूप को निरंतर सोचा करता है। वह उस सफ़ाई के दारोग़ा की भाँति है जो सफ़ाई रखने के लिए नालियों का दिन भर निरीक्षण किया करता है। बुराई का निरंतर ध्यान, अपनी असमर्थता और बलहीनता, पश्चात्तापी में कभी-कभी उल्टा प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं। पाप का सर्वकालीन

ध्यान चाहे वह घृणा और ग्लानि के रूप ही में क्यों न हो, पाप के प्रति मानसिक लगाव अवश्य उत्पन्न कर देता है। यह लगाव जागरूकता को और अशक्त कर देता है। बिलगाव के लिए भी लगाव—मनोविज्ञान बतलाता है—प्रतिकूल परिणाम कभी-कभी उत्पन्न कर देता है। "वैरभाव सुमिरत मोहिं निश्चर" ऐसा कहकर रामचंद्र जी ने राक्षसों को मुक्ति प्रदान की थी।

शिक्षाकला के पंडित हमें बतलाते हैं कि बालकों के सामने अशुद्धियाँ बहुत स्पष्ट रूप से आनी ही न चाहिए। अशुद्धियाँ समझाने के लिये भी अच्छे अध्यापक बालकों के समक्ष अशुद्ध रूप नहीं रखते। अशुद्ध प्रयोग बालकों के मनों में कभी-कभी ऐसे पैठ जाते हैं कि वे उन्हें लाख प्रयोग करने पर भी नहीं छोड़ सकते। अतएव चौबीसों घंटे का पश्चात्ताप कभी-कभी नितांत प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न कर देता है।

निरंतर नीचे देखनेवाला पृथ्वी देख सकता है, आकाश नहीं। उसे कभी-कभी आकाश की परिछाईं प्रतिबिंबित करनेवाले पृथ्वी के भागों में अवश्य दिखाई दे सकती है। असली आकाश नहीं। निम्नाभिमुखी को ऊपरत्व का भास कठिनता से हो सकता है। बीमार व्यक्ति

से यदि उसके ज्वर की माप समय-समय पर बतला कर उसका हृदय तोड़ दिया जाय तो उसका अच्छा होना कठिन हो जायगा। उसे तो यही कहना चाहिये कि वह अच्छा हो रहा है। इसी से वह अच्छा होगा। पश्चात्तापी व्यक्ति पापचिंतना उत्पन्न करके अपना अहित ही बहुधा कर डालता है।

बहुधा देखा गया है कि पग-पग पर कृत पाप के लिए रोनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा विश्व के कल्याण के लिए वह व्यक्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होता है जो कृत पाप को तुरंत भुलाकर जीवन-संग्राम में दूने उत्साह से रत हो जाता। पश्चात्ताप का तीव्र अनुताप न उसके शरीर को घुलाता है और न उसकी स्फूर्ति को मंद करता है। कोंच कोंच कर कोई भावना हमें संत नहीं बना सकती। सहला-कर और पुचकारकर कोई हमें पढ़ा सकता है और आगे बढ़ा सकता है। यदि कुम्हार घड़े को ऊपर से थापी से ठोंकता ही रहे और भीतर हाथ न लगावे तो घड़ा कभी बन ही नहीं सकता। एकांगी पश्चात्ताप उन्नति के लिए बहुधा सहायक नहीं होता।

संसार में पश्चात्ताप के कई प्रयोग दिखाई देते हैं कुछ व्यक्ति मुखर-पश्चात्ताप के आदी होते हैं। वे पश्चा-त्ताप का विज्ञापन करना धर्म और अध्यात्म उन्नति का

अनिवार्य अंग समझते हैं। इस मुखर-पश्चात्ताप के मूल में प्रचारकों के समक्ष लोकसंग्रह की भावना रहती है। परंतु इसका कोई चिरस्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। आए दिन की कथाओं को तरह उसका प्रभाव क्षणिक होता है।

मूक पश्चात्ताप अधिकतर व्यक्तिगत होता है। अपनी उन्नति और भलाई के लिए गुप्तरूप से साधक इस पश्चात्ताप को किया करता है। यदि सीमा का अतिक्रमण न किया गया तो यह पश्चात्ताप उपयोगी सिद्ध होता है।

पश्चात्ताप 'न वाचक' और 'हाँ वाचक' दोनों प्रकार का होता है। जब हम किसी पुण्यकार्य को किसी समय किसी परिस्थिति में नहीं कर पाते हैं तो जो पश्चात्ताप उदय होता है उसे 'न वाचक' पश्चात्ताप कह सकते हैं। और जब हम किसी पाप को कर डालने के कारण पश्चात्ताप अनुभव करते हैं तो उसे 'हाँ वाचक' पश्चात्ताप कहते हैं। पहले प्रकार में कोई ग्लानि नहीं होती वरन अपनी अकर्मण्यता पर खेद और परिताप होता है दूसरे प्रकार में वेग अधिक होता है। पहला यह प्रमाणित करता है कि हम अच्छे नहीं बन सके। दूसरा हमें निश्चित रूप से बुरा प्रमाणित कर देता है। पहले प्रकार के पश्चात्ताप में विश्व के साथ गहरी सहानुभूति रहती है। वास्तव में सहानुभूति

ही इस पश्चात्ताप के सारे रूप को छिपाये रहती है। इस पश्चात्ताप का सारा प्रदर्शन सहानुभूतिमय होता है। इसका सामाजिक रूप अधरों से 'चक्'-'चक्' करके प्रकट किया जाता है। इसे 'चक्'-'चक्' वाची पश्चात्ताप कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के 'हाँ वाची' पश्चात्ताप में सहानु-भूति की भावना बिलकुल नहीं रहती।

———

'पतित कौन न बने?'

का मुख लै बिनती करौं,
लाज आवति मोंहि।
तुम देखत औगुन करौं,
कैसे भावहुँ तोहि॥

छंद भंग न ढूंढ़िये । भाषा की अशुद्धता पर ध्यान न दीजिये । कला न देखिए, चमत्कार के लिए व्यर्थ प्रयास न कीजिए। यह एक पतित की उक्ति है । इसमें पश्चात्ताप की व्रीड़ा है; सत्यता का परिमल है, धर्म का ज्ञान है और कर्म की क्षमता है। 'उसकी' देख में सारे कुकर्म करता है और शाम को उसी के समक्ष पापों से मुक्ति पाने के लिये विनती करता है। हाँ, नमाज़ पढ़ता है और गिरजे

में प्रार्थना करता है । शाम और प्रातःकाल नाक दबा कर संध्या भी तो करता है।

परंतु हाँ, हमारा पतित औरों से भला है। वह केवल रस्म-अदाई नहीं करता। वह दिल से विनती करता है। तभी तो मानता है कि वह पापी है। वह शर्माता नहीं, लज्जा नहीं करता। वह तो अपने देवता से भी कह देता है कि मैं तुम्हें मुँह नहीं दिखा सकता। तुम सर्वज्ञ हो। फिर भी लुक छिप कर मैं पाप कर लिया करता हूँ और झूठ बोल कर कह भी दिया करता हूं कि मैंने ऐसा नहीं किया । फिर तुम मुझे कैसे पसंद करोगे ? दिनरात पाप। दिन रात तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन। मैं बहुत चाहता हूँ कि बुराई न करूं परंतु वह हो ही जाती है। मुझे ज्ञान भी है परंतु मैं ज्ञानी नहीं। भले बुरे की पहचान है परंतु अनुकरण नहीं । सुकरात ने लिखा है, Knowledge is virtue परंतु मुझ में वह Knowledge भी नहीं। व्यवहार पक्ष में मैं शून्य हूँ। जानता हूं सो करता नहीं और करता हूँ सो जानता नहीं।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानामि कर्मं न च मे निवृत्तिः

फिर क्या करूं सिर दे मारूं। शरीर पर से मेरा बस उठ गया है। वह अनायास पाप की ओर दौड़ता है। एक

भी नहीं सुनता। मुझ से तो रावण ही अच्छा था जिसने अपनी अकर्मण्यता ताड़ कर पाप को न निकाल सकने के कारण पापी को ही समाप्त कर दिया।

सुर रञ्जन भञ्जन महि भारा,
जो जगदीस लीन्ह अवतारा।
तो मैं जाइ बैर हठ करिहौं,
प्रभु सर ते भवसागर तरिहौं।
होहि भजन नहिं तामस देहा,
मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा।

अंतिम पंक्ति ठीक बैठी परंतु क्या किया जाय। न हैं 'प्रभु' और न उनके 'सर' यदि हिम्मत भी की जाय तो काम कैसे निस्तरे।

हाँ, तो रेल और इंजन के नीचे कट जाय तो भी वही बात। न सही 'सर' प्रभु के बनाये हुये यंत्र तो हैं। इन्हीं में जीवनोत्सर्ग करके भवसागर में कुछ दूर तो आगे ढकेला ही जा सकेगा। परंतु क्यों कहीं दूर? मनुष्य तो भगवान का ठीक नमूना है। और गोस्वामी जी ने तो यहां तक कह दिया—

'राम ते अधिक राम कर दासा'

फिर क्यों देर की जाय। परंतु नहीं कोई कहता है

कि आत्म-हत्यारे के लिए कुंभीपाक और रौरव से भी कड़ी यातनायें हैं। सो क्यों, यह तो शासनकार जाने; परंतु अपने राम की समझ में यही आता है कि पापियों का हमारा दल तो नरक में जाता है। वह तो स्वर्ग से कोसों दूर है। पापियों के स्वास की धधक तक भी नंदन वन नहीं पहुँच सकती। कदाचित हमारे देवता को यह भय हो कि यदि सब पापी एक ही स्थान पर एकत्रित हो जायं तो कहीं उनकी सेना न बन जाय, संगठन न हो जाय। कहीं स्वर्ग पर धावा न हो जाय।

परंतु हमारे देव ऐसे स्वार्थी नहीं। वे गज को उबारने के लिये नंगे पैर दौड़े। द्रौपदी की लज्जा-रक्षा के लिये जड़ वस्तु बन गये। कोई यदि देवता से पूछे कि हाथी पापी था इसीलिये तो आपत्तियां आईं। यदि ऐसी बात थी तो उसके शरीर की क्या कीमत? खतम करते इस मोम के मकान को। फोड़ देते इस मिट्टी के भाँड़े को, क्यों दुश्मनी की ग्राह से। अरे एक बार मेरे देव बतलाइये, हम पापी तेरी कौन विभूति हैं जो तू हमारी रक्षा करता है, हमें बचाता है। हमारी सृष्टि से तेरा क्या लाभ? हमने कब अर्जी भेजी कि पतितों की सृष्टि बनाइये।

हम कब कहा कि हमका सिरजौ,

सिरजेउ तोरि बड़ाई आय।

तूने हमें पैदा करके अपनी ही 'वाह-वाह' कराई। हम तो यह कहेंगे कि तेरी 'थू' 'थू' हो रही है। हाँ तुझे तो अपनी खुदाई से मतलब, मैंने भी ताड़ लिया है।

तुम काले रंग की आड़ में सफेदी से चकाचौंध करना चाहते हो। तभी तो पापी से बहुत बहलावे की बातें किया करते हो, उन्हें मरने न दोगे और न पाप छोड़ने दोगे ? सुग्रीव और विभीषण की इतनी प्रशंसा की परंतु उनसे पापकर्म को न छुड़ाया, युधिष्ठिर से झूठ बुलवाया सुंद की स्त्री का सतीत्व लूटा और फिर भी अच्युत। क्या ये काले धब्बे इसी लिये डाले हैं कि सफेदी में चमक आ जाय ? पीतांबर को चमकने के लिये ही क्या कलूटा विग्रह सिरजा गया है ? ललाट की दमक के लिये ही क्या काजल का ढिठौना है ? चंद्रमा की धवलता के अर्थ समझाने के लिये ही क्या श्यामल कलंक है ?

अच्छा तो देवता बतलाओ क्या हम लोग तेरे लिये अनिवार्य हैं ? तो क्यों तू हमारी कालिमा धुलवाता है ? क्या तू चाहता कुछ है और और करता कुछ और है ?

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

इस युक्ति में तू पापियों को उठाने के लिये हाथ बढ़ाता है कि उन्हें पाप पंक में ढकेलना चाहता है ! तेरी बातें तू ही समझे ।

हम पापी तो जिधर देखते हैं तेरी नज़ीर है । एक ओर यदि हम तुझे यह कहते सुनते हैं कि "जिन सपनेहु पर नारि न हेरी" तो दूसरी ओर सुंद की स्त्री से रमण करते हुये भी देखते हैं । एक स्थान पर यदि तू शिशुपाल की सौ गालियाँ तक सुन लेता है तो दूसरी ओर जयंत पर इतना क्रुद्ध हो जाता है कि तेरा 'बिन फर सायक' उसके पीछे-पीछे तीनों लोकों में उसे खदेड़ता फिरता है । कहीं पर त्याग की पराकाष्ठा दिखाते हुये—

'राजिव लोचन राम चले
तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं ।'

तो दूसरी ओर लक्ष्मी पाने के लोभ से मोहनी स्वरूप धारण कर देव दानव युद्ध कराते देखते हैं । एक ओर असाधारण निर्मोही बन कर आप अपनी प्रेयसी तक को त्याग देते हैं तो दूसरी ओर मोह में फँस कर लक्ष्मण के लिये विलाप करते हैं । मद के अभाव में एक स्थान पर तो हम अपने देवता को ऋषियों और ब्राह्मणों

के पैर छूते देखते हैं तो दूसरी ओर गीता में उनके गर्जन का जो घोष सुनाई देता है उसके अनुसार विश्व की सभी विभूतियों में सब से ऊँचे स्थान पर बैठा पाते हैं। यह मियां मिट्ठूपन नहीं तो क्या ? मीठे लड्डुओं के बीच का कड़ुआपन झूठा निकलता है। ऐ मेरे देवता मुझे तो ऐसा ही लड्डू पसंद है। अपनी जबान को क्या करूं ? तुम्हारे गुण तुम्हारी कमजोरियां हैं। यदि काली और सफेद सृष्टि के दो पूरक स्वरूप हैं, यदि सुख-दुःख पाप और पुण्य अखंड सत्ता की दो वेगवती धारायें जो आगे चलकर तुम में मिल जाती हैं, यदि पतित उतना ही आवश्यक है जितना पावन तो पतित कौन न बनेगा ?

प्रकाश

प्रकाश अपवाद है, अंधकार सत्य है। 'प्रकाश हो' और 'प्रकाश हो गया' इसीका भाष्य तो वेदांती यों करेंगे— 'माया हो, और माया हो गई।' नामात्मक भेद और स्वरूपात्मक पार्थक्य कब उत्पन्न होते हैं? इसी प्रकाश में। एक में अनेक भासित करने वाली कौन बात है? यही 'भासमान'। यही ज्ञान के नाम से पुकारा जाने वाला महान अज्ञान। प्रकाश की रश्मियों में प्राणियों को भ्रम में डालने वाले पाश हैं। इंद्रियों को बहिर्मुखी करने वाला, अभ्यंतर को बाह्य से उलझाने वाला यही प्रकाश है। आत्मा को परमात्मा से दूर करने वाला, पुण्य के भेष में पाप कमाने वाला यही प्रकाश है। कभी यह नेत्र पर बैठ कर किसी को घूरता है, कभी यह दाँतों पर बैठ कर किसी पर आघात करता है। चेहरे की ज़र्दी में भी यही मिला है, और निर्जल बादल के टुकड़ों को यही इधर-उधर शून्य में घुमाता है।

अंधकार

ऐ प्रकाश के लिए तरसने की चीज़ ! ऐ विधाता के स्थूल फुफ्फुस की गह्वर साँस ! विश्वात्मा तुम्हारा ही छत्र-धारण करके, विचरण करता है। विराट का निराकारों आकार भी तो तुम्हीं हो। ब्रह्मवादियों के 'अनिर्वचनीय' और वेदांतियों की माया तुम्हारे ही दूसरे अभिधान हैं। सृष्टि के महाप्रलय की परिस्थिति ! महाशून्य का उजड़ा-पन ! विश्व के तुम सब से बड़े धोखे हो।

रजनी-वधू के घूँघरों को भी रात को तुम्हीं सजाते हो। सृष्टि के आरंभ से विश्व के बड़े-बड़े प्रकाश-पिंड तुम्हारे साथ छुई-छुऔव्वल खेल रहे हैं परंतु आज तक किसी ने तुम्हारे छुई-मुई आकार के अंचल तक को छू नहीं पाया। सब से बड़ा प्रखर-प्रभा-पिंड तो तुम्हारा आशिक है। परंतु उसके भाल पर संयोग की रेखा ही नहीं पड़ी। वह

विना देखे ही प्रत्येक प्रातः और सायं तुम्हारे चरणों में जावक विखेर कर चलता बनता है। परंतु तुम रमणी थोड़े ही हो। तुम न जाने क्या हो और कहां हो।

प्रकाश और अंधकार में वही अंतर है जो बूढ़े के धवल केश और तरुण के इठलाते हुए काले घुँघराले कुंतलों में। माना कि दूध की भाँति धोई आँखें अपनी ओर बुलाती हैं, परंतु देखना काली पुतली ही को आता है। इस काले पर सफेदी की जबरदस्ती, आँखों के आंख-पने को ही नष्ट कर देती है। और फिर काली पुतली पर सफेद परिधि क्यों खिलती है, क्योंकि उसके चारों ओर काजल की मोटी मगजी लगी है। प्रकाश अंधकार का वंदी है।

नीलम की दमक में भी अंधकार ने उजाले को कैद कर रखा है। कैदी काले मोटे घूँघट के भीतर से झाँकता है, परंतु निकल नहीं भागता। उजाला जब बदला लेने का प्रयास करता है तो केवल बदहज़मी की आशंका से ही दीपक उगल-उगल कर अंधकार से अपना मत्था काला कर लेता है।

ढोल बहुत बोलता है, परंतु पोल में छिपे अंधकार की बदौलत। असीम को ससीम से छिपाने के लिए उसकी

पोली चादर भी तो तुम्ही हो। स्रष्टा के ऊपर अनंत काल की लगी हुई काली मुहर भी तो तुम्हीं को लोग कहते हैं। ऐ दैवी चितेरे के उर्वरा धरातल वाला कृष्ण-पाटव ! ऐ विधना की लिपी हुई 'नकार' की स्याही ! ऐ समस्त की लेखनी की नोक से टपक कर फैला हुआ मसिबिंदु ! तुम हम सब के लिए एक उलझी-सुलझी पहेली हो।

विष्णु की सलोनी आभा का पानी ! राम और कृष्ण के कंधों पर उतरकर विश्व को सुंदरता की दीक्षा तुम्हीं तो देने आए थे। जहाँ एक ओर ब्रह्म के पद-रज धोकर ब्रह्मा ने अपना एक कमण्डल सजाया वहाँ दूसरी ओर पद-नखाग्र धोकर दूसरा भी कमण्डल सुसज्जित किया था। भागीरथी और कालिंदी गौरीशंकर पर साथ ही उँडेली गईं। प्रयाग आज भी अंधकार के महान त्याग का आदर्श युगों को चीरता हुआ उपस्थित किए है। भूरी-भूरी आंखों की कहानी भी प्रकाश कौर अँधेरे के सोहाग और अँधेरे के बलिदान की गाथा ही है।

विश्व के विश्वत्व के नाते पाप का प्रति रूप बन कर तुम पुण्य को चुनौती भी हो। तुम अच्छाई की सूखी आह हो और बुराई का अधिकार ! उपासना की पहली

सीढ़ी और समाधि का पहला बिंदु भी तुम्हीं हो। वास्तव में तुम उजाले की चाँद पर काले बालों का गुच्छा हो।

बिना शरीर के सर्वत्र व्याप्त कामदेव के सहचर भगवान् के बड़े भाई अंधकार तुम्हें बार-बार प्रणाम है।



स्वर्गीय पंडित रामचंद्र शुक्ल

एक समीक्षा

परिचय

लेखनी पर विषाद का भारी बोझ है, फिर भी हिंदी साहित्य के उस अद्वितीय विद्वान से उऋण होने की आकांक्षा है। मेरे साहित्यिक जीवन के आरंभ से ही स्वर्गीय शुक्ल जी ने मुझे बड़ा प्रभावित किया है। उनकी समस्त कृतियों को मुझे मनोयोग से पढ़ने का अवकाश मिला है और उनके व्यक्तित्व का भी थोड़ा बहुत सान्निध्य उपलब्ध रहा है।

बस्ती ज़िले के किसी साधारण ग्राम में शुक्ल जी का सन् १८८४ में जन्म हुआ था। १९०६ में इन्होंने इंट्रेंस पास किया और फिर कालेज की शिक्षा छोड़कर वकालत की ओर मुड़ गए। वकालत की परीक्षा की इनकी विफलता ने इनके जीवन को उचित और सीधे मार्ग पर ला खड़ा किया।

मिर्ज़ापुर मिशन हाई स्कूल की ड्राइंग मास्टरी इन्हें बहुत काल तक टिका न सकी। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास की दृष्टि इन पर पड़ी और ये काशी पहुँचे। 'इंडियन पीपुल' में 'विषैले जंतु' शीर्षक इनकी लेख माला ने वैसे तो इन्हें लोगों से परिचित करा दिया था परंतु 'प्रेमघन' जी की 'आनंद कादंबिनी' और 'सरस्वती' के इनके गवेषणापूर्ण लेखों ने इन्हें अधिक प्रसिद्ध कर दिया। परिणामस्वरूप सन् १६०८ में ये "हिंदी शब्द सागर" के सहायक संपादक के रूप में काम करने लगे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का संपादन भी इन्होंने आठ नौ वर्ष तक किया। काशी विश्वविद्यालय के हिंदी प्रोफेसर की नियुक्ति के बाद इनकी साहित्यिक सेवायें अधिक ठोस होने लगीं। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास के अवकाश ग्रहण करने के बाद हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के ये अध्यक्ष बनाये गये।

शुक्ल जी ने साहित्य सेवा कई दिशाओं में आरंभ की। अन्य बड़े-बड़े ग्रंथों के साथ उन्होंने 'वीरसिंह देव 'चरित' का भी संपादन किया। उनके निबंधों का संग्रह पहले 'विचार-वीथी' के रूप में सामने आया और फिर दो भागों में, अधिक परिवर्धित रूप में, इंडियन प्रेस से 'चिंतामणि' बनकर निकला। इसी पुस्तक पर हिंदी साहित्य संमेलन ने

शुक्ल जी को मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया। उस वर्ष के निर्णायकों में मैं भी था। मुझे बड़ा संतोष है कि मैंने अपना मत 'चिंतामणि' के पक्ष में दिया था। वैसे तो साहित्य के उस महारथी की पीठ ठोकने के लिये किसी दूसरे की आवश्यकता न थी, पीठ ठोकने का काम स्वयं शुक्ल जी ने ही ले रक्खा था। इस प्रांत की हिंदुस्तानी ऐकेडेमी ने भी उनके इतिहास पर पाँच सौ रुपये का पुरस्कार देकर औचित्य का परिचय दिया था।

साहित्य मीमांसा के अतिरिक्त शुक्ल जी का रुझान इतिहास और दर्शन की ओर भी पर्याप्त था। उन्होंने मैगस्थनीज़ के भारतीय विवरण का हिंदी में अनुवाद किया और फ़ारस का एक अच्छा प्रामाणिक इतिहास, बड़ी छान बीन के साथ, हिंदी में लिखा। योरप के प्रसिद्ध दार्शनिक हेकेल के 'रिडिल आफ़ दी यूनिवर्स' को 'विश्व-प्रपंच' के नाम से हिंदी में अनुवाद ही नहीं किया उसकी भूमिका लिख कर अपने प्रकांड दार्शनिक ज्ञान का परिचय दिया। सर पी० माधव राव के 'माइनर हिंट्स' को 'राज्य प्रबंध शिक्षा' नाम देकर और एडिसन के 'ऐसे आन इमैजिनेशन' को कल्पना का आनंद' शीर्षक देकर उन्होंने दो और सुंदर अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। वे पूर्ण रूप से मौलिक रचनाएं प्रतीत होती हैं। बँगला के

प्रसिद्ध लेखक राखालदास के दो उपन्यासों का रूपांतर 'करुणा' और 'शशांक' देखते ही बनता है। 'आदर्श जीवन' को तो जिन विद्यार्थियों ने हाई स्कूल कक्षा में पढ़ा होगा वही उनकी अनुवाद कुशलता के क़ायल होंगे। मूल का पूरा-पूरा आनंद उपस्थित है। बाबू राधाकृष्ण दास के जीवनचरित्र को उपस्थित करके उन्होंने जीवन वृत्त लिखने की परिपाटी का आदर्श उपस्थित कर दिया। इंदौर साहित्य संमेलन के साहित्य परिषद के सभापति की हैसियत से इन्होंने जो भाषण दिया वह स्वयं एक छोटी पुस्तक है। भाषण के विचारों से चाहे सबका मेल न खाय परंतु लेखक के तर्क और उसकी प्रवाहपूर्ण शैली से बचकर सम्हली हुई समीक्षा करना सरल नहीं। यही बात उनकी रहस्यवाद नाम की छोटी पुस्तक की है। विदेशी समीक्षकों की युक्तियों को ऐसी कुशलता के साथ सजाया है कि गहरे आघात के सामूहिक प्रभाव से पीछा छुड़ाकर लेखक के एकंगेपन को ताड़ लेना सरल नहीं।

पं० रामचंद्र शुक्ल की शैली में अनुपम उलझाव था। वाक्य चाहे छोटे छोटे हों चाहे बड़े, उनमें बड़ा बल था। एक ही विचार को कई बार कई प्रकार से कह कर वे अपने लेखों को दुरूह होने से बचा लेते थे। तत्सम शब्दों का

प्रयोग आवश्यक होने पर ही करते थे परंतु उनके तद्भवों में ग्रामीणता और अनागरिकता कभी नहीं आई। दार्शनिक प्रबंध उनके अपेक्षाकृत छोटे होते थे। उनकी शैली भी चिंतना प्रधान होती थी। अन्यत्र तर्क और बुद्धि को उकसाने वाले वाक्यों में भी रागात्मिकता बराबर मिलती है। इसी से वे शुष्क नहीं हो पाये। किसी की प्रशंसा करने में वे कभी-कभी एक दो वाक्य बिलकुल काव्यमय लिख दिया करते थे और किसी के मिथ्या पाखंड पर आघात करने के लिए अत्यंत परुष वाक्यों का भी प्रयोग करते थे। महत्ता के निर्माण में उनके वाक्यों में श्रद्धा की वेगवती गरिमा रहती थी और क्षुद्रता के ध्वंस में उनके वाक्यों में क्रोध की धड़धड़ाहट दूर से सुनाई देती थी। शब्दों के आकार के बड़े होने के साथ-साथ वाक्यों का लट्ठ भी लम्बा हो जाया करता था। विषयों की गम्भीरता ने उनकी अभिव्यंजना को भी गंभीर बना दिया था। बिना कई बार पढ़े वे साधारण विद्यार्थी की समझ में नहीं आते। पर वे अस्पष्ट अथवा रहस्यमय कहीं नहीं हैं। न जाने कितने शब्द और मुहावरे उन्होंने गढ़ कर नये चला दिये।

पं० रामचंद्र शुक्ल के सबसे बड़े पुत्र पं० केशवचंद्र शुक्ल, डिप्टी कलक्टर कानपुर से मुझे मालूम हुआ कि

अभी शुक्ल जी की बहुत सी सामग्री अप्रकाशित है। उनका एक लक्षण ग्रंथ लगभग छः सौ पृष्ठ का लिखा रक्खा है। बहुत सी कवितायें भी अभी अप्रकाशित पड़ी हैं। उनके इतिहास का नवीन संस्करण अभी संवर्धित होने को था। श्री महादेवी वर्मा पर तो लिखा हुआ उनका प्रबंध अभी इतिहास में जोड़ने के लिये रखा है।

शुक्ल जी की कविता

शुक्ल जी का सबसे प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ 'बुद्ध चरित्र' है। ब्रज भाषा में लिखा हुआ यह एक प्रबंध काव्य है। ब्रज भाषा के शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की बान से कदाचित ही कोई बड़ा से बड़ा कवि बचा होगा। केवल शुक्ल जी ही इसके अपवाद हैं। एक ही शब्द के अनेक रूपों के प्रयोग की सदोष परिपाटी से भी ये दूर रहे। मँजी हुई प्रांजल ब्रज का आज का सुसंस्कृत निखरा हुआ रूप 'बुद्ध चरित' में मिलेगा। 'कलेश' अथवा 'क्लेस' न लिखकर बराबर उसका तत्सम रूप 'क्लेश' ही को उन्होंने अपनाया है। विवरण का समूचापन और विभावन व्यापार का भरा पूरा चित्र 'बुद्ध चरित' की सर्वोपरि विशेषता है। दृष्टिपथ की वे सुई भी नहीं भूलते और फिर भी उबा देने वाली नीरस बहुलता भी नहीं है। कवि बहुज्ञ है पर उसके ज्ञान का बोझ वस्तु-

स्थिति को दबा नहीं पाता। इसी से कथा कहीं ढीली नहीं हो पाई। रसों की निष्पत्ति में बरबरता नहीं है। नागरिकता की एक चेतन हिचक उनका नियंत्रण करती है। बुद्ध के जीवन में ही "करामातों" की उतनी भीड़ भाड़ नहीं जितनी ईसामसीह के जीवन में है। इसीलिए 'बुद्ध चरित्र' के भीतर समीचीनता का अच्छा प्रवेश हो पाया है। समसामयिक वातावरण देकर कवि ने जीवन के लिए सीधे और पैने आदेश भी संकेत किए हैं। कुंवर सिद्धार्थ की बढ़ती हुई प्रतिभा--तुलसी के राम की प्रतिभा से होड़ लेती हुई "गुरु गृह गए पढ़न रघुराई, अल्प काल विद्या सब आई।"—

सहसा अंतरिक्ष को आच्छादित करती हुई दिखाई देने लगती है।

'बुद्ध चरित' की सब से बड़ी विशेषता अभिव्यंजना की सरलता और अभिधा का प्रश्रय है। एक दो स्थलों को छोड़कर जैसे "ऊर्णादायिनी जननि" (पृष्ठ ११२) जहां कोष के ढूंढ़े हुए शब्द भी मिल जांयगे, सर्वत्र प्रसाद गुण मिलेगा। यही सरलता 'बुद्धचरित्र' का गुण है और यही उसका दोष है।

प्रयोगों के सूक्ष्म संकेत न भी हों परंतु ध्वन्यात्मक उक्तियों की भारी कमी खटक जाती है। जिस छंद को

लेकर 'बुद्ध चरित' आरंभ होता है उसमें यथेष्ट संगीत बल नहीं है। कहीं-कहीं अनुप्रास प्रियता के मोह से "प्रीति पसरी" में 'पसरी' एक अत्यंत पुराना प्रयोग अपनाना पड़ा। अवतारों की प्रेरणा में जो शुक्ल जी ने, अनुवाद के ही रूप में सही, गीता की भारती से भिन्न वाणी सुनाई है वह भक्तों की अनुमति नहीं पा सकी। 'बुद्ध चरित' में कोई न कोई अलौकिक रूप, व्यक्ति अथवा परिस्थिति कथानक को नाटकीय ढंग से सहसा मोड़ देती है। यह यहाँ की पुरानी परिपाटी अवश्य है पर युग के मनोभाव से मेल नहीं खाती। चमत्कारों से लिपटा हुआ जीवन हमारे नेत्रों को प्रखर आलोक से चकाचौंध कर सकता है पर हमें अपने से दूर ही रखता है। असंभाव्य घटनाओं की समस्त चित्रकारी गौतम बुद्ध के भक्तों की आदर्श प्रतिमा चमकाने में सफल अवश्य हुई पर हम उन्हें अपने बीच से खो बैठे। पर यह न भूलना चाहिए कि शुक्ल जी आर्नल्ड के 'लाइट आव् एशिया' का अनुवाद कर रहे थे। उन्होंने कई स्थलों पर स्वतंत्रता का अवलंबन किया पर वे इस सीमा तक बढ़ जाना कदाचित उचित न समझते होंगे। 'बुद्धचरित' में वेगवती रस की मस्ती नहीं है। अरूप को एकदम सरूप करके जो अव्यक्त के ऊपर श्रद्धा टिकाने

के अभ्यास का प्रसार हो सकता था वह भी अवतारी उपासना के कारण न हो सका।

खड़ी बोली की कविता के क्षेत्र में शुक्ल जी श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के आदर्शों से ही अधिक प्रभावित थे। द्विवेदी जी अंगरेज़ी कवि वर्डसवर्थ की भाँति नित्य की बोल-चाल की भाषा को ही कविता का श्रेष्ठ माध्यम समझते थे। अंतर केवल इतना है कि वर्डसवर्थ जहां भी अपने आदर्श का मोह छोड़ कर ऊपर उठा, केवल वहीं वह कवि के रूप में सफल हुआ है। अन्यत्र उसकी रचनाएं केवल गद्य गान होकर रह गई हैं। परंतु द्विवेदी जी अपने आदर्श से चिपके रहे अतएव वे कुशल कवि नहीं हो सके। स्वयं शुक्ल जी ने लिखा है कि द्विवेदी युग की रचनाएँ गद्यात्मक ही रहीं। शुक्ल जी इसके अपवाद न थे। उनकी खड़ी बोली की रचना का कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"नगर से दूर कुछ गाँव की सी वस्ती एक
हरे भरे खेतों के समीप अति अभिराम॥
जहाँ पत्रजाल अंतराल से झलकते हैं
लाल खपरैल, श्वेत छज्जों के संवारे धाम॥
बीचोबीच वटवृक्ष खड़ा है विशाल एक

झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटाएँ थाम ॥
चढ़ी मंजु मालती लता है जहां छाई हुई
पत्थर की पट्टियों की चौकियां पड़ी हैं श्याम ॥
भूरी हरी घास आस पास, फूली सरसों है
पीली-पीली विंदियों का चारो ओर है प्रसार ॥
कुछ दूर विरल, सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार ॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार ॥
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमंडल से
धुँधली सी नीली नगमाला उठी धुंवाँधार ॥
अंकित नीलाभ रक्त गर्भ श्वेत सुमनों से
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में ॥
फलियां हैं करतीं संकेत जहां मुढ़ते हैं
और अधिकार न ज्ञान इस काल में ॥
बैठते हैं प्रीति भोज हेतु आस पास सब
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में ॥
हाँक पर एक साथ पंखों ने सराटे भरे
हम मेड़ पार हुए एक ही उछाल में ॥"

पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता, वर्णन की संकुलता, बिंबग्रहण

के लिए पूरी चौकसी के साथ चित्रण, विभावन व्यापार की पूर्णता, ऊँची कविता के सभी लक्षण ऊपर की पंक्तियों में हैं। कवि की पैनी दृष्टि संदर्भ के किसी भी आकर्षण को छोड़ती नहीं। परंतु फ़ोटोग्राफ़ी ही तो कविता नहीं है। इतिहासकार युद्धों की तिथिवार तालिका यदि बिना रुके हुए गिनाता चला जाय तो भी एक कौतूहल और मनोरंजन होता है। हम उसकी मेधा की प्रशंसा करते हैं। हम शुक्ल जी के चित्रों की भी द्रुत आनयन क्षमता पर प्रसन्न होते हैं। यहीं उनकी प्रखर कल्पना से साक्षात्कार होता है। द्रुत गति से अतीत के चित्रों को यथातथ्य बिठाये जाने वाली शक्ति ही को तो मेधा कहते हैं। परंतु इन पंक्तियों में वह हृदय की लपेट कहाँ है जिसके बिना स्वयं शुक्ल जी केशव को 'हृदय हीन' कवि कहते हैं। बाह्य पदार्थों का मानसिक ज्ञान तो है पर हृदय के तल से भावनिधि में डूबकर ये पंक्तियाँ कहां निकली हैं ? और देखिये—

"देख देव मंदिर पुराना एक बैठे हम
वाटिका की ओर वहाँ छाया कुछ आती है॥
काली पड़ी पत्थर की पट्टियाँ पड़ी हैं कई
घेर जिन्हें घास फेर दिन का दिखाती है॥
क्यारियाँ कहीं हैं लुप्त पथ में उठी हैं झाड़

बाड़ की न आड़ कहीं दृष्टि बाँध पाती है।
नर ने जो रूप यहाँ भूमि को दिया था कभी
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है॥
मानव के हाथ से निकाले जो गये थे कभी
धीरे-धीरे फिर उन्हें लाकर बसाती है॥
फूलों के पड़ोस में मकोय बेर औ बबूल
बसे हैं, न रोक टोक कुछ भी कीजाती है॥
सुख के या रुचि के विरुद्ध एक जीव के ही
होने से न माता कृपा अपनी हटाती है॥
देती है पवन जल धूप सब को समान
दाख औ बबूल में न भेद भाव लाती है॥"

यहाँ भी तन्मयता का अभाव ही है। पंक्ति की पंक्ति इसी प्रकार की इतिवृत्तात्मक मिलेंगी। जहाँ इतनी बातों को स्मरण रखने से चित्र पूरा हो गया है वहाँ भावाघात के धीमे होने से काव्य का पूरा रूप उनमें नहीं उतर सका। कहा जा सकता है कि रामायण में भी तो 'आगे चले बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक परवत नियराई' ऐसी इतिवृत्तात्मक पंक्तियाँ हैं। प्रबंध काव्य के भीतर ऐसी पंक्तियों का आ जाना क्षम्य है। सर्वत्र रस में डुबाये रखना किसी भी प्रबंध-काव्यकार के लिये संभव नहीं है। यह कथन नितांत सत्य है

किंतु कृती चित्रकार विश्वविश्रुत मल्लप्रधान गामा के महान और पुष्ट आकार के साथ-साथ उसके अवयवों का गतिलाघव और क्षिप्र संचालन जब एक ही चित्र में प्रदर्शित करता है तो वह उसको दक्षिण प्रकोष्ठ में बँधा हुआ रक्षाबंधन भी दिखा दिया करता है। परंतु दर्शकों का ध्यान संचित शक्ति के अवतार के ऊपर ही टिका रहता है सूखे सूत्र की ओर नहीं जाता, उसी प्रकार कुशल प्रबंधकार कथानक को ढकेलने वाले इतिवृत्तात्मक प्रसंगों को भी दो सरस प्रसंगों के बीच इस प्रकार जड़ देता है कि उन प्रसंगों की नीरसता का ध्यान आये बिना पाठक एक सरस प्रसंग से दूसरे सरस प्रसंग तक पहुँच जाता है। यही गोस्वामी जी की विशेषता है।

शुक्ल जी की ऊपर की पंक्तियों में अंतिम चार पंक्तियाँ निष्कर्षवाही पंक्तियाँ हैं। निष्कर्षवाही पंक्तियाँ ही वास्तव में चिंतनशील पाठकों के लिए सब कुछ होती हैं। उन्हीं को काव्य का दर्शन कहते हैं। ऊंची चिंतन और गहरी तन्मयता का ग्रंथिबंधन ही अच्छे काव्य की विशेषता है। शुक्ल जी की पंक्तियों का उथला विचार नीरस भावना के ऊपरी धरातल पर अंकुरित हुआ और मुरझा कर रह गया। आगे की पंक्तियों में रीतिकाल के

कवियों का पूरा साज़ उपस्थित है—

"प्रखर प्रणय पूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की
ललक लपट भरी भूमि भभराई है।
पीवर पवन लोट-लोट धूलि धूसरित
झपट रहा है। बड़ी धूम की बंधाई है॥"

इन पंक्तियों में ब्रजभाषा के नाद सौंदर्य और वर्ण-माधुर्य का आवाहन किया गया है। खड़ी बोली के रंध्रों से पुरानी ब्रज वंशी बज रही है। पहली पंक्ति का अनुप्रास, 'ललक लपट' की लक्षणा और दूर का श्लेष, तीसरी पंक्ति में छेकानुप्रास की लड़ी यही इन पंक्तियों का चमत्कार है, फिर भी इन पंक्तियों में गद्यात्मकता नहीं है। जब-जब शुक्ल जी ब्रज की ओर झुके हैं तब तब उनकी पंक्तियों में रस एकत्रित हो सका है।

० जिस युग में शुक्ल जी ने खड़ी बोली को कविता के लिए अपनाया था उस युग में खड़ी बोली में अभिव्यंजना की अनेकरूपता न थी। वास्तव में बहुत से कलाकारों के सामुहिक और निरंतर प्रयोग से कोई भाषा बहुत काल में जाकर मँजती है, और तभी उसमें अभिव्यंजना की अनेकरूपता और सुकुमार भाव और विचार अच्छे ढंग से व्यक्त करने का सौकर्य आता है। वैसे भी शुक्ल जी को काव्य

क्षेत्र में वह स्थान प्राप्त न हो सका जो उन्हें साहित्य के दूसरे क्षेत्रों में प्राप्त हुआ है । इस दिशा में उनकी सेवाएँ गौण और साधारण हैं । कोई यह कदापि नहीं कह सकता कि उनका रुझान काव्य रचना की ओर न था । परंतु उफनते हुए कवित्व को समेटे रहने वाला व्यक्तित्व उन्हें प्राप्त न हो सका था । वे चिंतन प्रधान थे । वे काव्य के पैने पारखी थे, परंतु कविता से सृजन के लिए जिन भीतरी गहरे धक्कों की आवश्यकता होती है वे उनमें धीमे थे ।

प्रबंधकार शुक्ल जी

शुक्ल जी ने बड़े-बड़े कई आलोचनात्मक प्रबंध लिखे हैं । उनमें साहित्य की विवेचना है । मनुष्य के प्रमुख मनोभावों पर भी उनके कुछ अच्छे निबंध हैं । किसी भी साहित्यिक कृति की समीक्षा करते समय समालोचक, अन्य कृतियों के बीच में, कलाकार के व्यक्तित्व की छाया के भीतर, उसे देखता और दिखाता है । गुण दोषों का ताना बान पूरते समय समीक्षक का ध्यान साहित्य सिद्धांतों की आदर्श रूपरेखा से हटता नहीं । वह आदर्श रूपरेखा देशी भी हो सकती है और विदेशी भी । कुशल समालोचक तो अपने महान अध्ययन और अनुभव के बल पर समीक्षा सूत्रों को स्वयं प्रस्तुत करता है । उनमें देशी विदेशी का झगड़ा

नहीं होता। सर्वदेशीयता और सर्वकालीनता की छाप उन पर होती है। चिंतना का पूरा प्रयोग निष्कर्षों और सिद्धांतों के सामंजस्य के लिए परमावश्यक है। पर कविता की प्रेषणीयता परखने के लिए हृदय को छोड़ा नहीं जा सकता। उसे समय-समय पर उकसा कर पंक्तियों की कसौटी के लिए सजग रखना पड़ता है। अतएव साहित्य-समीक्षा के लिए लेखक को हृदय और मस्तिष्क का पूर्ण सोहाग स्थापित रखना पड़ता है। शैली में प्रज्ञात्मक और रागात्मक भेद का पालन करना असंभव हो जाता है।

परंतु मानव मनोभावों के ऊहापोह में प्रबंधकार को हृदय से एकदम हटकर मस्तिष्क पर ही टिकना पड़ता है। रागात्मक अभिव्यंजना का बहुत कम अवकाश रह जाता है। उसे तो पूरा-पूरा दार्शनिक बनना पड़ता है। मानव मनोभावों का उसे शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों प्रकार का ज्ञान होना चाहिए। जिस मनोभाव को वह अपने प्रबंध का विषय चुनता है उसे पहले पहल साधारण सर्व सुबोध अर्थ के स्थूलतल से क्रमशः ऊपर उठाता हुआ नाना सूक्ष्म अर्थ भूमियों की स्पष्ट झाँकी दिखाता चला जाता है। उसकी व्याख्या और समीक्षा। की पैनी दृष्टि से मनोभाव का कोई दुरूह से दुरूह संकेत

अछूता नहीं रह पाता। जितनी प्रकार की अंतरदशाओं से उक्त मनोभाव का साम्य और वैषम्य है, जितनी मानसिक गतियाँ उस मनोभाव से परिचालित अथवा उसकी उपस्थिति से परिचलित होती है उन सब की सुलझी हुई व्याख्या मनोभाव के प्रबंध लेखक को देनी पड़ती है। इस महान मानसिक चिंतन के लिए बुद्धि पर चेतनता का भारी बोझ पड़ता है जिसको सँभाल ले जाना अभ्यास से ही संभव है। सुलझी विचारधारा, तार्किक उतार चढ़ाव, दूर तक बिना थके ले जाने वाला सिलसिला, खुली हुई अर्थगुंफना, सब की एक साथ आवश्यकता पड़ती है। प्रस्तुत मनोभाव के कक्ष में यदि कहीं से घुस कर कोई भ्रांत धारणा बैठ गई है तो उसे भी ध्वंस करना पड़ता है।

आजकल देखा गया है कि जीवन की अनेकरूपता में वादों की भी अनेकरूपता साथ-साथ चला करती है। जो जिस क्षेत्र के जिस वाद का पोषक है वह उस वाद विशेष का विस्तार और पोषण सब से चाहता है। किसी मनोभाव के विश्लेषण में भी यह आसक्ति काम करती रहती है। एक अध्यात्मवादी मानव प्रवृत्तियों और मनोभावों में एक अलौकिक और आध्यात्मिक प्रेरणा की सूचना देना अपना अर्तव्य समझेगा। प्रवृत्ति विशेष के

कारण को भौतिक और लौकिक व्यवस्थाएँ पूरा, पूरा समझा नहीं सकतीं, ऐसा उनका विश्वास होता है। दूसरी ओर भौतिकवादी किसी भी मनोभाव की नाना प्रवृत्तियों की संगति बैठाने के लिए विश्लेषण करते समय इन्हीं लौकिक और भौतिक आधारों को ही सब कुछ मान कर उन्हें खोजता है। इतरलोकप्रभाव के झमेले को वह भ्रम समझता है। ईश्वरवादी नास्तिक, धार्मिक और अधार्मिक, सभी लोग अपने वाद की ओर अपनी व्याख्या को घसीटते हैं। परंतु एक सच्चा दार्शनिक जिस मनोभाव की भी व्याख्या करता है, उसे इन इकंगे आक्रमणों से बचाये रखता है। वह तो उसका सच्चा निस्पृह चित्र खींचता है। पं० रामचंद्र शुक्ल के प्रबंधों से पता चलता है कि उनमें निष्पक्ष और निर्मल बुद्धि प्रचुर मात्रा में थी। इसी लिए उनके प्रबंध बहुत सुंदर बन पड़े हैं। हिंदी में ही नहीं दूसरी भाषा में भी ऐसे प्रबंध बड़ी कठिनता से मिलेंगे।

इंडियन प्रेस प्रयाग ने चिंतामणि के नाम से इनके प्रबंधों को दो भागों में प्रकाशित किया है। हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा इसी पुस्तक पर मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिला है।

पहिले भाग में प्रथम दस प्रबंध 'भाव या मनोविकार',

'उत्साह', 'श्रद्धा', 'भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा' और 'ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय', 'क्रोध' पर हैं, अन्य प्रबंध साहित्य की आलोचना पर हैं। 'कविता क्या है?' 'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र', 'तुलसी का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्म भूमि', 'काव्य में लोक मंगल की साधना', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', तथा 'रसात्मक बोध के विविधि रूप' पर शेष निबंध लिखे गये हैं। मानव मनोभावों पर जितने प्रबंध लिखे गये हैं उनकी भाषा सरल, विचार गहन परंतु बोधगम्य हैं। शैली पूर्ण प्रज्ञात्मक है। तद्भव शब्दों से ही काम अधिकतर चलाया गया है। मनोभावों की समीक्षा अथवा व्याख्या विस्तार में सहेतुकता और सामंजस्यपूर्ण शृंखला है। एक ही विचार को अच्छी प्रकार समझाने वाले एक कुशल अध्यापक की भाँति कई बार कहने के कारण पुनरुक्ति अवश्य हो गई है। पर वह खटकती नहीं। बुद्धि बिना प्रयास के समझती चलती है। मनोविज्ञान का शास्त्रीय ज्ञान और मानवता का मनोभावात्मक व्यापक और गहरा अनुभव और उसके व्यवहार पक्ष की पूरी जानकारी सब शुक्ल जी में प्रचुर मात्रा में थी। उन्होंने मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण विज्ञान, दर्शन शास्त्र इत्यादि की नयी देशी

विदेशी कृतियों को ध्यानपूर्वक पढ़ा था और मनोभावों की क्रीड़ाभूमि मनुष्य को भी नेत्र खोल कर परखा था। साहित्य के आलोचनात्मक प्रवंधों में चिंतामणि में कोई नवीनता नहीं! जिन विपयों पर, विस्तार के साथ, प्रवंधों के रूप में, अलग अलग लिखा गया है उन सब का मूल रूप और संक्षिप्त प्रकरण उनके साहित्य के इतिहास तथा उनके आलोचना ग्रंथों में मिल जायगा।

'कविता क्या है ?' इस प्रवंध की कुछ पंक्तियां आगे दी जाती हैं—

"जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ संचार, मकरंदलोलुप मधुप गुंजार, कोकिल कलित निकुंज और शीतल सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विपयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमविंदु मंडित मरकताभ शाद्वल जाल, अत्यंत विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल प्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर नीहारिका के वीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं वे तमाशवीन हैं। सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"

शुक्ल जी के विचार अधिक संयत या नियंत्रित नहीं।

विषयी साधारणतया वह कहलाता है जो विषयों—मूर्त पदार्थों—के इंद्रिय सुख को भोगने में आनंद लेता है। परंतु व्यापारों के आकर्षक स्वरूपों से प्रभावित होना और उनके भावपूर्ण रूपों का परिचय करना इंद्रिय संभोग सुख की लालसा कदापि नहीं है। किसी भी उद्दीप्त मनोभाव के मेल में जगत गति कैसे चलती है, अशेष और शेष का समन्वय कैसे होता है यह स्थूल इंद्रिय परायणता से पृथक वस्तु है। वैसे तो यह भी कहा जा सकता है और कहा भी गया है कि समस्त काव्य कामुकता के विस्फोट का रूप है। भाव, रस अथवा संगीतसौंदर्य की संकुलित चोट व्यक्ति के भाव रूप पर पड़ती है इंद्रियों में मंथन उत्पन्न नहीं करती। भाव जगत की भड़भड़ एक दूसरे जगत की क्रांति है। उसे भोग्य वस्तु से उत्पन्न हुई इंद्रियों की ऐंठन न समझना चाहिए।

सीताहरण को देखकर कोई परस्त्री को चुराने नहीं दौड़ पड़ता और न अभिज्ञानशाकुंतल का अभिनय देखकर कोई प्रणय व्यापार आरंभ कर देता है। और फिर जिन रूप व्यापारों की योजना शुक्ल जी ने अपने वाक्यों में ऊपर की है उनमें तो किसी प्रकार का अशुद्ध और असंगत जीवन व्यापार भी नहीं है।

उनकी आगे की उक्ति पर थोड़ा ध्यान दीजिये। शुक्ल जी निसर्ग की भद्रता, विचित्रता, भव्यता, व्यापकता के रूप व्यापारों के प्रति तल्लीनता में रमण करने वालों को तमाशबीन समझते हैं। उन्हें सच्चे भावुक या सहृदय नहीं समझते। कोई पूछे क्या औत्सुक्य एक भाव नहीं है? क्या अद्भुत एक रस नहीं है? क्या मानव जीवन को अपने आस-पास से ऊब कर निसर्ग में रमण करने का अधिकार नहीं है? तन्मयता की निधियों को अपनी दुनियां की उपमाओं से तोल कर कुछ कहना भी उसके लिए मना है; और फिर सर्वत्र कुछ इने-गिने रसों की उपलब्धि के लिए परेशान रहना सच्ची काव्य मर्मज्ञता तो नहीं है। भाव की उद्दीप्ति अधिक बढ़कर स्थायीभाव हो जाती है। और उसी की पकी हुई स्थिति रस है। सर्वत्र इसी पके हुए रूप तक पहुँचना संभव नहीं। किसी भाव विशेष पर आघात करने वाली, किसी स्थायीभाव की झाँकी दिखा देने वाली, अथवा किसी चमत्कार के वाहन पर चढ़कर प्रसन्न कर देने वाली उक्ति क्या किसी प्रकार का मनोरंजन नहीं करती। फिर उसे योंही टाल देना कहां तक उचित है?

पुराने आचार्यों ने मनोरंजन को भी काव्य का लक्षण माना है। रस तक प्रत्येक उक्ति पहुँचे बिना कविता नहीं

हो सकती, यह भावना कविता की गंभीरता और गुरुत्व को उतना नहीं बढ़ाती जितना उसके क्षेत्र को सीमित कर देती है। शुक्ल जी की समीक्षा प्रणाली का यह तर्क खटकता है। इस स्थल पर दोनों वाक्यों में 'ही' का प्रयोग बहुत कुछ शुक्ल जी के विचारों को सँभाल लेता है। पर ऐसा कदाचित ही कोई कवि हो जो इन्हीं वस्तु व्यापारों को बैठा बैठा कर गिनाया करे। शुक्ल जी के इन उद्‌गारों में वर्तमान कविता की बाह्य रचना और चमत्कारपूर्ण प्रबंध गुंफना के प्रति रोष झलकता है। यही उनकी अतिरंजना का कारण है।

इतिहासकार शुक्ल जी

इतिहास लेखक भी एक निर्मल समीक्षक होता है। शुक्ल जी की आलोचना शक्ति ने उन्हें हिंदी साहित्य का उत्तम इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ किया है। युग की प्रेरित और प्रेरक प्रवृत्तियों का सामंजस्य, साहित्य की विभूतियों की गतानुगति की परंपरा के सहारे स्थापित करना ही साहित्य का इतिहास है। अपने रुचि विशेष के कवि को उसकी समस्त आसपास की आलोक परिधि के भीतर देखना और दिखाना उसकी आलोचना प्रस्तुत करना है, परंतु उसकी निज की सीमा को सब ओर से नाँघ जाना और

दृष्टि को इतने विस्तार के साथ व्यापक आकाश पर फैला देना कि अपना कवि और अनेक कवियों की लड़ी में नील पत्रक पर चमकता दिखाई दे, साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करना है। ऐसी परिस्थिति में कोई अपना नहीं रह जाता और सब अपने हो जाते हैं।

शुक्ल जी के पास यह निर्मोही मोह था। उनकी दृष्टि बड़ी शुद्ध, सहानुभूतिपूर्ण और उदार थी।

हिंदी साहित्य का काल विभाग उनका नितांत मौलिक है। उन्होंने योंही विभिन्न वर्गों को खड़ा नहीं किया। हिंदी साहित्य की समस्त प्रवृत्तियाँ उनकी खूब परखी हुई हैं। नये संस्करण में उन्होंने राहुल सांकृत्यायन और काशी प्रसाद जी जायसवाल की खोज को अपना कर अपने इतिहास को समीचीन बना दिया है।

हिंदी साहित्य के भक्त काल की जैसी उत्तम और सुबोध व्याख्या शुक्ल जी ने दी है वैसी अन्यत्र न मिलेगी। निर्गुण और सगुण भक्ति धारा दोनों का इतिहास बड़ा विद्वतापूर्ण है। राम भक्ति और कृष्ण भक्ति का जन्म किस प्रकार हुआ उसकी भी अनूठी चर्चा है। रीति युग के कलाकारों का ऊहापोह भी सुंदर है। वे आचार्य काव्य के कलापक्ष को उदाहृत कर देने में कहाँ तक सफल

और विफल हुए हैं इसका भी बड़ी विद्वता के साथ प्रतिपादन है। हिंदी गद्य का इतिहास प्रस्तुत करने में भी समस्त सामग्री का बड़ी सावधानी से प्रयोग किया गया है।

उनके साहित्य में यदि कहने की कहीं गुंजाइश दिखाई देती है तो वर्तमान काल की व्याख्या में। रुग्ण और जर्जर शरीर, वृद्धावस्था और अध्यापक का व्यस्त कार्यक्रम, उन्हें अधिक अध्ययन करने से अवश्य रोकता होगा। पर कारण एक और भी था। हिंदी कविता के नये रूप से, आरंभ से ही, शुक्ल जी सहयोग न कर सके। नयी कविना जितनी पुरानी है उतना ही उसका विरोध भी पुराना है। उनका विरोध कुछ सीमा तक उचित भी था। उक्तिवैचित्र्य की ऊटपटांग नक्काशी खोद कर उसे ये नये कवि कविता के नाम से पुकारने लगे थे। इसे छायावाद का नाम दे दिया गया था। छायावाद के प्रकृत रूप से ये लोग बहुत दूर थे। शुक्ल जी ने इसी से छायावाद के खिलौनों को पहले खिलवाड़ बतलाया और फिर कुछ इकंगे होकर रहस्यवाद के पीछे पड़ गये। जायसी की भूमिका में जिस रहस्यवाद की प्रशंसा उन्होंने की है उसी रहस्यवाद को वर्तमान कवियों के अपना लेने के कारण बुरा भला कहा है। हिंदी में रहस्यवाद नामक अपनी

पुस्तिका में विदेशी समालोचकों के रहस्यवाद विरोधी अवतरणों को देकर रहस्यवादी कविता को ध्वंस करने का प्रयास किया है। हिंदी साहित्य के इस नये संस्करण में उनके विचारों की कट्टरता यद्यपि उतनी नहीं रह गई फिर भी स्थान-स्थान पर वर्तमान कवियों की खूब खबर ली गई है। कुछ उदाहरण देखिये—

"बहुत से नये रसिक प्रस्वेद गंध युक्त चिपचिपाती और भिनभिनाती भाषा को ही सब कुछ समझने लगे हैं।"

"ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे।"

"छायावाद और कलावाद के सहसा आ धमकने से वर्तमान काव्य का बहुत सा अंश एक बँधी हुई लीक के भीतर सिमट गया।"

"प्रसाद जी का ध्यान शरीर विकारों पर विशेष जमता है।"

संभव है शुक्ल जी को नवीन कवियों को पूरा-पूरा पढ़ने और उनकी निर्माणक परंपराओं को पूरा-पूरा परखने का अवकाश न रहा हो। पर यह अवश्य है कि उनके बँधे हुए निष्कर्ष झुकना नहीं जानते। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अज्ञेय, आरसीप्रसाद, बच्चन,

रामकुमार वर्मा और बहुत अंशों में उदयशंकर भट्ट को सूक्ष्मता और ध्यान से पढ़ने का उन्हें अवकाश नहीं मिला और यदि मिला भी तो एक चलताऊ ढंग का। इस काल के नाटकों, उपन्यासों, छोटी कहानियों, गद्य गीतों, एकांकी नाटकों का भी उनका पूरा-पूरा परिचय न था, नहीं तो उनकी व्यापक चर्चा मिलती। वर्तमान युग के पुष्ट शैली वाले प्रबंध रचयिता माखनलाल चतुर्वेदी, स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी, कृष्णकांत मालवीय, बनारसीदास चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, जैनेंद्र-कुमार के प्रबंधों को जिसने पढ़ा है वह उनकी चर्चा उचित रूप से कैसे न करेगा ? स्वर्गीय रामदास गौड़ तो बनारसी होकर भी इतिहास में स्थान न पा सके, यह आश्चर्य की बात है। 'विज्ञान' की हिंदीसेवा की हैसियत से न सही, पर उन्होंने दर्जनों प्रबंध नितांत साहित्यिक शैली में लिखे हैं विषय यद्यपि उनका वैज्ञानिक ही रहा है। उनका 'भुनगा-पुराण' हिंदी साहित्य का अनुपम रत्न है। उन्होंने वैज्ञानिक विषयों पर अनेक कविताएँ भी लिखी हैं जो द्विवेदी युग की गद्यात्मक रचनाओं से बुरी नहीं हैं। गौड़ जी को इतिहास में उचित स्थान अवश्य मिलना चाहिये था।

शुक्ल जी कुशल आलोचक थे। थोड़ों का थोड़ा भी पढ़

कर वे एक ऐसी पृष्ठभूमि खड़ी कर देते थे कि जिसमें निष्कर्षों के सबल प्राण निवास कर सकें। उससे विपरीत अथवा पृथक सोचना कठिन ही नहीं असंभव था। अपनी बनाई हुई पोशाक कवि को पहना कर फिर उसकी तस्वीर खींचना शुक्ल जी खूब जानते थे। पुराने समय के साहित्य के इतिहास में संत साहित्य को समझाते समय जहाँ शुक्ल जी ने उसके आध्यात्मिक महत्व और पवित्र धर्म विधान को सहानुभूति के साथ समझाने का प्रयास नहीं किया। केवल भाषा के दोष, विचारों के पिष्ट-पेषण और लोकबाह्य उपदेशों की ही निंदा करते रहे, वहाँ दूसरी ओर नितांत अनिवार्य आवश्यकताओं की कमी को भाग्य के बहाने टाल देने की बात और अत्यंत प्रयोजनीय आर्थिक वर्ग संघर्ष से बचाववाद वाले सिद्धांत के प्रतिकूल भी कुछ नहीं कहा। शोषकों के शोषण के लिए संतों ने भाग्यवाद से पूछकर आध्यात्मिक मुहर लगा दी। "हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ" चाहे उनके आराध्य तुलसी ने ही क्यों न कहा हो इसकी तीव्र आलोचना होनी चाहिए थी।

'रीति काल' का नाम रीति काल क्यों रक्खा गया यह भी समझ में नहीं आता। "विशिष्ट पद रचना रीतिः"

वामन की उक्ति है परंतु रीतिकाल के अंतर्गत केवल रीतियों की ही व्याख्या थोड़े ही है। अधिकतर तो अलंकार, रस, नायिका भेद, छंद इत्यादि की व्याख्या मिलती है। इस स्थल पर कोई अधिक व्यापक शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। शुक्ल जी ने इस युग के अंतर्गत आए हुए कवियों का उचित सम्मान नहीं किया। चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य का मनोरंजन भी आल्हादकर होता है। केवल रस को ही सब महत्व दे डालना संस्कृत साहित्य से बड़े भाग को निकाल फेंकना है।

'पृथ्वी राज रासो' की प्रामाणिकता के प्रतिकूल पर्याप्त प्रमाण देने पर भी उसे शुक्ल जी वीर गाथा काल से हटा नहीं पाये। ओझा जी की उक्तियों को भी निराधार प्रमाणित नहीं कर सके। इतिहास में ऐसे और भी अनेक स्थल मिलेंगे जहां शुक्ल जी के निष्कर्ष की ईमानदारी तो दिखाई देती है पर सच्चाई का अभाव है।

शुक्ल जी के साहित्य के इतिहास के नये संस्करण में तद्भव शब्दों के लिखने की बान कई स्थलों पर मिलती है। "गड़बड़झाला" शब्द कई बार आया है। भाषा और वाक्य भी कहीं कहीं पर ढीले हैं। मालूम यह होता है कि नये संस्करण का नया भाग बड़ी शीघ्रता में लिखा

गया है। साहित्य के इतिहास का सब से बड़ा गुण होना चाहिए उसकी संक्षिप्त शैली। पोथा-पंथी इतिहास नहीं। घटनाओं और व्यक्तियों का अजायबघर भी इतिहास नहीं। चुने हुए कुछ चुस्त वाक्यों में निष्कर्षों को, चाहे वे व्यक्तियों के संबंध में हों चाहे प्रवृत्तियों के संबंध में ज्ञानकोष (Encyclopedia) की रचना की ऐसी संकेतात्मक पद्धति में व्यक्त करना चाहिए कि वे वाक्य पाठकों के कंठ में बस जाय। शुक्ल जी इस ढंग को सर्वत्र नहीं निभा सके। नहीं तो उनका इतिहास बेजोड़ हो जाता।

जायसी और शुक्ल जी

मलिक मुहम्मद जायसी पर शुक्ल जी ने जो आलोचना लिखी है वह उनकी सब आलोचनाओं में श्रेष्ठ है। वैसे शुक्ल जी ने तुलसी पर आलोचना लिख कर बड़ी प्रशंसा प्राप्त की है और वास्तव में तुलसी विषयक आप की समीक्षा बहुत सुंदर आलोचना ग्रंथ भी है। परंतु शुक्ल जी की ख्याति प्रसार का कारण गोस्वामी तुलसीदास की जनप्रियता भी बहुत है। तुलसीदास जी की रामायण न जाने किस समय से हिंदू जनता का प्रिय ग्रंथ बना हुआ है। धर्म ग्रंथ की भाँति उसे लोग पढ़ते और सुनते हैं। गोस्वामी जी की इसी लोकप्रियता से शुक्ल

जी की आलोचना का खूब प्रचार हुआ और उनकी कीर्ति फैली। फिर भी यह निस्संकोच कहा जायगा कि आलोचना के तत्वों के आधार पर जितनी अच्छी साहित्य समीक्षा जायसी की बन पड़ी है उतनी और किसी कवि की नहीं बन पड़ी। स्थान-स्थान पर पाद टिप्पणियाँ देकर जायसी के संपादित ग्रंथों की उपयोगिता बढ़ा दी गई है। २७१ पृष्ठ की भूमिका स्वयं एक स्वतंत्र ग्रंथ है। उच्छ्वासों का वैज्ञानिक ढंग से विभाजन किया गया है। प्रेममार्गी कवियों की प्रेरणा वाली समस्त परिस्थितियों का परिचय ऐतिहासिक ढंग से कराया गया है। जायसी का जीवन वृत्त ऐतिहासिक खोज के आधार पर निर्माण किया गया है। कथा का कितना भाग ऐतिहासिक है और कितना काल्पनिक, वर्णनों में कितनी वास्तविकता है और कितनी ऊहा, यह भी खोल कर रख दिया गया है। समस्त कहानी का लक्ष्य लोक-कर्तव्य न होकर साहस, दृढ़ता, वीरता, प्रेमोन्माद का निदर्शन करना है। इसके भीतर रत्नसेन की प्रेमकथा का दार्शनिक चित्रण है। वस्तुवर्णन अद्वितीय है। नाना रसों को व्यक्त करने वाली उक्तियों को भी शुक्ल जी ने बड़ी मार्मिकता से एकत्र किया है। अलंकारों की मीमांसा, सूफीमत की व्याख्या, रहस्यवाद का

इतिहास और जायसी का उसका निर्वाह ये प्रकरण तो बहुत ही विद्वत्ता पूर्ण है। हिंदी में इनकी समता नहीं की जा सकती। शुक्ल जी की भाषा प्रवाहपूर्ण और बोलती हुई है। जायसी की भ्रांतियों को भी दिखलाया गया है।

यह अवश्य है कि कहीं कहीं शुक्ल जी किसी विचार विशेष को अपने ढंग से समझाने की धुन में तर्क विस्तार का इतना अधिक आश्रय लेते हैं कि निर्मित पृष्ठ भूमि अतिरंजित दिखाई देती है। जायसी के प्रेम विधान के वर्गीकरण का प्रयास भी इसी प्रकार का है। वास्तव में चार प्रकार के वर्गीकृत प्रेम में दूसरे और चौथे में कोई तात्विक अंतर नहीं है। प्रेम का एकंगा रूप भारतीय साहित्य की विशेषता नहीं है। यहाँ तो उभयपक्ष की समान तीव्रता सर्वत्र मिलेगी। जायसी के प्रेम को प्रेम-साधना की एकांत भूमि से उतार कर उसमें लोकपक्ष के परमाणुओं को ढूँढना बुद्धि का अपव्यय है। शुक्ल जी एक स्थल पर कहते हैं—

"इश्क की मसनवियों के समान पद्मावत लोकपक्ष शून्य नहीं है।"

आगे कहते हैं—

"कवि ने जगह-जगह पद्मावती को जैसे चंद्र, कमल इत्यादि के रूप में देखा है वैसे ही उसे प्रथम समागम से डरते हुए सपत्नी से झगड़ते,

और प्रिय के अनुकूल लोकव्यापार करते भी देखा है । राघव चेतन के निकाले जाने पर राजा और राज्य के अनिष्ट की आशंका से पद्मावती उस ब्राह्मण को अपना खास कंगन देकर संतुष्ट बनाना चाहती है । प्रेम का लोक पक्ष कैसा सुंदर है ।',

विचारों में घोर अतिरंजना है । राघव चेतन को कंगन देने का अभिप्राय पति को अनिष्ट से रक्षित रखने का था और प्रिय की रक्षा की भावना प्रेम का व्यक्तिपक्ष ही है लोकपक्ष नहीं । प्रेम का लोकपक्ष व्यक्ति पक्ष से अधिक पूज्य है यह लेकर चलने वाले शुक्ल जी जायसी को उठाने के लिए राघव चेतन का उदाहरण ढूँढ़ते हैं । ऐसा उदाहरण भी समस्त कथा में अकेला ही है ।

'पद्मावत' के अंत में जायसी ने समस्त कथानक को एक अन्योक्ति बताया है। कथा के पात्रों की संगति भी उसके साथ बैठाई गई है । पर कथा के समस्त प्रसंग इतने व्यक्त और एक पक्षीय हैं तथा अभिधेयार्थ का इतना अधिक सहारा लिया गया है और ऐहिक उपादानों का इतना खुला हुआ प्रयोग हुआ है कि यत्र तत्र व्यक्त से अव्यक्त की झाँकियाँ दिखा देने से कथा अन्योक्ति नहीं कही जा सकती है । इधर उधर के प्रयोगों के अनुसार समासोक्ति और अन्योक्ति दोनों प्रयोगों के रूप मिलेंगे । बात यह है कि कथा लिखने

के पश्चात उसकी पार्थविकता के प्रायश्चित के लिए अन्योक्ति की ध्वनि निकालना जायसी की बाद की सूझ है। कथा लिखने के पहले यह भावना न थी। यदि ऐसा होता तो मंगल का लक्ष्य लेकर वस्तु विस्तार किया जाता।

जायसी एक दक्ष प्रबंधकार हैं यह भी कहना ठीक नहीं। इस संबंध में भी शुक्ल जी ने जायसी का पक्षपात किया है। यद्यपि स्वयं उन्हें ऐसे उदाहरण देने पड़े जिनके कारण कथा सीधा मार्ग छोड़ कर अनेक विषमताओं में जा गिरी है। केवल मुट्ठी भर परिस्थितियाँ भी औत्सुक्य को उकसाने की क्षमता के साथ खोली नहीं जासकीं। मार्मिक स्थलों का आनयन भी सर्वत्र कुशलता के साथ नहीं किया गया। स्वभावचित्रण में जायसी और भी कच्चे हैं। स्वयं शुक्ल जी कहते हैं—

"आरंभ ही में हम यह कह देना अच्छा समझते हैं कि जायसी का ध्यान स्वभावचित्रण की ओर वैसा न था।"

फिर भी रत्नसेन के चरित्रचित्रण में चरित्रविधान के चार रूप बनाकर खड़ा करना अनावश्यक सा प्रतीत होता है। जायसी के निर्बल पात्रों को सबल बनाने का प्रयास पक्षपातपूर्ण है। परिस्थिति में बेमेल चलने वाले उनके अस्वाभाविक पात्र किसी प्रकार भी कलात्मक नहीं कहे जा सकते। अंत में स्वयं शुक्ल जी को कहना पड़ा—

"सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण जायसी में बहुत कम है।"

वास्तव में बात यह है कि जायसी की कथावस्तु क्षीण और शिथिल है। पात्र सीधे खड़े नहीं हो सकते। वे लड़खड़ाते हैं। एक कुशल प्रबंधकार सुंदर नाना मनोरम परिस्थितियों को सामने रखते हुए घटनाओं और वर्णनों की सामंजस्यपूर्ण संकुलता से छलकती हुई कथावस्तु को औत्सुक्य की बलवान पटरियों पर वेग से आगे बढ़ाता जाता है। वह विषम अध्ययन और जगतगति की व्यापक अनुभूति द्वारा अपने अंतःकरण में निर्मित मौलिक रूपों को ही सशक्त पात्रों के रूप में बाहर रखता है, जो भुलाये नहीं भूलते और मिटाये नहीं मिटते। वह जीवन के गहरे तत्वों का घात प्रतिघात गंभीरता, सरसता और मनोरंजकता के साथ सहगामिनी और विरोधगामिनी वृत्तियों के मेल में सामने रख देता है। ऐसा कलाकार इस जीवन और अतींद्रिय जगत की भाव-विभोर झाँकियाँ ही सामने नहीं रखता। वह समस्त आकांक्षाओं और चिंतनाओं को उकसा दिया करता है। उसकी शैली में शब्दों का बोझ और मृदंग का सारहीन नाद नहीं रहता। आघातप्रेष-

णीयता और अर्थरमणीयता भी सूक्ष्म ध्वनियों के सहारे उत्पन्न हो जाती है। यदि कोई आज के इस प्रबंध सौकर्य के तत्वों के सहारे जायसी का निरीक्षण करेगा तो उनके साथ न्याय नहीं कर सकता।

शुक्ल जी ने जायसी की बहुत सी पंक्तियों को सूक्तियों के नाम से काव्यक्षेत्र से अलग कर दिया है। ये पंक्तियाँ रस सिक्त न होकर भी रमणीय अर्थप्रतिपादन कर सकती हैं। सूक्तियों को यदि सच्चे काव्य से बाहर कर दिया जाय तो उसका क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो जायगा। दूर की सूझ वाली मनोरंजनप्रधान पंक्तियाँ जहाँ तक वास्तविकता की महीन से महीन डोर पर तनी रहती हैं वहाँ तक काव्य के ही अंतर्गत आयेंगी।

जायसी की भूमिका में कई ऐसे प्रकरण हैं जो स्वतंत्र रूप से प्रबंध हैं। अनेक निष्कर्ष अवश्य यत्र तत्र जायसी द्वारा उदाहृत हैं। 'मत और सिद्धांत', 'अलंकार', तथा 'जायसी का रहस्यवाद' ऐसे ही प्रकरण हैं। जितनी विद्वत्ता के साथ इन विषयों का प्रतिपादन और इनकी प्रतिष्ठा हुई है उससे इनकी पृथक और एकांत स्थिति का आभास स्पष्ट मिल जाता है। इसीलिये समूची पुस्तक के बीच ये अकेले खड़े हुए से दीखने लगते हैं। परंतु यदि हम विद्वत्तापूर्ण प्रसंगों को निकाल

दिया जाय तो पुस्तक का कलेवर बड़ा छोटा पड़ जायगा।

जायसी पर शुक्ल जी का बड़ा आभार है। ठेठ पूर्वी अवधी के उनके ग्रंथ वैसे ही आजकल अधिकांश हिंदी-भाषियों के लिए सुबोध नहीं। यदि शुक्ल जी की उत्तम आलोचना ने जायसी के प्रति लोगों का ध्यान न खींचा होता तो कोई इस कवि को पढ़ने का कष्टसाध्य प्रयोग न करता। भाषा के कारण ठेठ अवधी प्रांत के रहने वालों को छोड़कर उनकी पुस्तकें सभी के लिये कठिन प्रतीत होतीं। इधर खड़ी बोली का गद्य और पद्य में प्रसार बढ़ गया है और घर में कालेज और स्कूल की पढ़ी गृहलक्ष्मियों के आ जाने से स्वयं अवध से यह बोली बहिष्कृत है। ब्रजभाषा के पुराने ग्रंथों का भी यही हाल है। एक रामायण अपनी लोकप्रियता के कारण कुछ सँभली हुई है। पर आज के कालेज के विद्यार्थी अवधी और ब्रज को पढ़ते समय प्रत्येक क्रियापद और शब्द का अर्थ बिना लिखे नहीं समझ पाते। पंद्रह वर्ष पूर्व यह बात न थी। यदि शुक्ल जी ने जायसी के लिये इतना महान प्रयास न किया होता, चाहे वह अपनी अमूल्य प्रतिभा का आवश्यकता से अधिक अपव्यय ही क्यों न हो, तो जायसी चंदवरदायी की भाँति अलमारियों में ही सजे रह जाते।

सूरदास और शुक्ल जी

सूरदास के काव्य पर शुक्ल जी ने बहुत ही सुलझा हुआ और ७७ पृष्ठों का संक्षिप्त प्रबंध 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका के रूप में लिखा है। इसके अतिरिक्त यदि उन्होंने और कुछ सूर पर लिखा हो तो वह मेरे देखने में नहीं आया। इधर यह सुना है कि उनका दो सौ पृष्ठों का एक ग्रंथ सूर पर अप्रकाशित पड़ा है। प्रकाशित भूमिका में बड़ी सुंदरता के साथ उन्होंने हिंदी में गीतकाव्य की अवतारणा की रूपरेखा समझाई है। सूरदास के काव्य को समस्त मानसिक परिस्थितियों की व्याख्या अच्छे उदाहरणों के साथ की है। बालकाल और यौवनकाल के रूप को लेकर कृष्ण की नाना लीलाओं और क्रीड़ाओं को सूक्ष्मता से और कोमलता से सूर ने किस प्रकार दिखाया है यह भी बड़े अच्छे ढंग से शुक्ल जी ने लिख दिया है। सूर के काव्य की समीक्षा में शुक्ल जी का बहुत स्पष्ट यह कह देना कि लोक संग्रह के प्रदर्शन में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई नितांत उचित है। यदि सूर रामायण के कुछ उदाहरण भी इसके लिए दे देते तो और अच्छा होता। वैसे तो कृष्ण के स्वभाव और रूप चित्रण में भी उस ओर उनका ध्यान नहीं गया। भाषा के मधुर और कोमल उदाहरण, भावों के सुकुमार तंतु, परिस्थिति की रमणीयता के सुंदर-सुंदर

उदाहरण देकर कुशल आलोचक ने सूर के प्रति हिंद भाषा भाषियों का ध्यान खींचकर वड़ा उपकार किया है।

एक सचे तथ्य निरूपक की भाँति सूर के काव्य में उन्होंने बहुत से भरती के पद, निरर्थक शब्द, पाद पूर्ति की बेढंगी विधि, वाक्यशिथिलता, उबा देने वाली आवृत्ति को भी निहारा है। पर उन्होंने कूटों और अलंकारों की कट्टर योजनाओं, केवल रूप सादृश्य और चमत्कार वाले रूपकों और अश्लील निबंधनाओं के उदाहरण न देकर सूर के प्रति अश्रद्धा नहीं उत्पन्न होने दी। यह बहुत अच्छा किया। रासलीला, मानलीला, चीरहरण लीला आदि कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनके कारण भगवान का असली रूप समझने में इस युग के बड़े-बड़े सतर्क भक्तों को भी दिक्कत होती है और वैष्णवों को भी उन लीलाओं को अन्योक्ति के ताने बाने में सजाना पड़ता है। शुक्ल जी ने ऐसा कोई प्रयास नहीं किया। यह विषय उनकी समीक्षा से अछूता रहा। यह भी अच्छा है।

शुक्ल जी सूर को तुलसी की अपेक्षा अधिक साम्प्रदायिक समझते हैं। कारण यह है कि उनका ग्रंथारंभ गणेश की वंदना से स्मार्त वैष्णवों की भांति नहीं होता। शुक्ल जी का कहना है कि तुलसी अपने सब ग्रंथों का आरंभ गणेशवंदना से करते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात

है कि तुलसी के ग्रंथों को बड़े मनोयोग से पढ़कर भी उन्होंने यह कैसे लिख दिया कि उनके सब ग्रंथ गणेश की वंदना से आरंभ होते हैं और फिर अपने उपास्य के ध्यान और नाम से ग्रंथ आरंभ करना कोई कट्टरता नहीं। तब तो बिहारी जैसे रसिक कवि भी राधा नागरी की आराधना करने के कारण साम्प्रदायिक हो जायँगे। सूर के संबंध में यह न भूलना चाहिए कि कृष्ण के रूप में इन्होंने विष्णु की ही आराधना की है। तुलसी के लिए तो यह भी कहा जा सकता है कि—

"का बरनौं छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे धनुष बान लेउ हाथ॥"

पर राम कृष्ण के भेद वाली ऐसी कोई कट्टरता का प्रमाण सूर के प्रसंग में प्रसिद्ध नहीं है।

शुक्ल जी ने एक स्थल पर उन तीन कारणों को बतलाया है जिनके कारण मानस में स्थान-स्थान पर गोस्वामी जी जो राम में देवत्व का आरोप करते चलते हैं उनका निराकरण हो जाय। वास्तव में शुक्ल जी की यह एक बड़ी कष्टसाध्य कल्पना है। यह बात नहीं जैसा शुक्ल जी ने लिख दिया है, कि मानस के अतिरिक्त अन्यत्र देवत्व का आरोप गोस्वामी जी ने किया ही नहीं। देवत्व का आरोप सूर ने भी स्थान-स्थान पर किया है।

भक्ति के आवेश को न रोक सकने के लिए भगवान की मूर्ति अक्षुण्ण रखना इन दोनों कवियों के लिए चाहे जितना आवश्यक रहा हो पर काव्य कला को क्षति ही पहुँची है ।

शुक्ल जी ने वात्सल्य और शृंगार के दोनों रूपों की ओर सूर की दृष्टि को अधिक परखने की कोशिश की है इसी से और प्रबल भाव छूट गये हैं । दैन्य, प्रणति, आत्म नकार, आत्मोसर्त्ग, विनय, आत्मग्लानि, भगवान कृष्ण का एकाकी सहारा, अपने घोर पापी रूप का स्पष्ट साक्षात्कार, आत्मनिरीक्षण आदि न जाने भक्ति भावना की कितनी ऊँची अभिव्यंजनाएँ गोपियों और कृष्ण के संयोग वियोग लीलाओं से बचकर भी सूर के मुख से निकली हैं उनका संकेत आलोचना में नहीं है । यह खटक जाता है । वात्सल्य के प्रसंग में शुक्ल जी ने स्वभावोक्ति की मीमांसा करते-करते उसे अलंकारों के बाहर खदेड़ दिया । अन्य ग्रंथों में भी उन्होंने यही प्रसंग दिया है । मुझ पर भी पहले उनकी उक्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा था । पर प्राचीन आचार्यों का अधिक मनोयोग से अनुशीलन करने के पश्चात मैं समझता हूँ कि शुक्ल जी का तर्क सदोष है । इस छोटे से लेख में इस विषय की समीक्षा अप्रासंगिक होगी ।

सूर पर शुक्ल जी के उत्तम प्रबंध को पढ़ जाने पर यह

प्रश्न अनायास सामने आ जाता है कि क्या बात है कि जिस कुशल समालोचक ने तुलसी और जायसी पर इतना सुंदर लंबा ग्रंथ लिख डाला वह सूर ऐसे महान कवि पर केवल ७७ पृष्ठ का एक छोटा प्रबंध लिख कर संतोष कर ले। उन्होंने सूर की सब दिशाओं वाली समालोचना नहीं की जैसी और कवियों की है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि प्रगीत काव्य पद्धति पर शुक्ल जी का उतना अनुराग नहीं है और सूर केवल प्रगीत काव्य के कवि हैं। प्रबंधों की अनुकृति पद्धति से वे इतने प्रभावित हैं कि सच्चा काव्य वे उसी में देखते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा भी है :

"काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं। अनुकृत या प्रकृत और अतिरंजित या प्रगीत। कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय पर जगती रहती है उसी से ऐसे रूप व्यापार हमारे सामने लाते बनेंगे जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं, और उसी भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती जिसको सामान्यतः सब का हृदय अपना सकता है।"

ऊपर का अवतरण यह स्पष्ट कर देता है कि शुक्ल जी अनुकृत कलाकार को अर्थात् प्रबंध काव्य लेखक को गीत

काव्य रचयिता से अधिक ऊँचा स्थान देते हैं। सूरदास गीत काव्य की ही सृष्टि अधिकतर करते रहे। अतएव उन्हें शुक्ल जी की सहृदयता अधिक न मिल सकी।

प्रबंध काव्य में जीवन के अनेक रूपों की मार्मिक व्यंजना होती है, यह ठीक है। प्रबंध काव्यकार के ज्ञानविस्तार और अनुभूतियों में व्यापकता होनी चाहिए। इससे अधिक से अधिक यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि खूब घूमा फिरा है और उसने कोमल स्पंदनशील हृदय लेकर विश्व में फेरा डाला है। वह बहुश्रुत और बहुज्ञ है। ज्ञानेंद्रियों का मुँह खोलकर विश्व की प्रतिक्रियाओं को उसने पिया है। परंतु शुक्ल जी का ध्यान इस ओर नहीं गया कि कवि की आयु प्रबंधकाव्यों से आरंभ होकर गीतों में समाप्त होती है। यह आवश्यक नहीं कि सब कवि पहले प्रबंधकाव्य लिखें, और फिर गीत काव्य लिखें, परंतु गीतों में ही कवि होता है। स्वानुभूति का कोष गीतों में ही फूट निकलता है। अपना निजीपन, अपना संदेश, अपना भार वह गीतों ही के द्वारा उतारता है। गीतों के निश्छल उद्गार उसकी आत्मा के रूप होते हैं। हिंदी के श्रेष्ठ कवि बाबू मैथिली शरण गुप्त को देखिये। प्रबंधों से उन्होंने आरंभ किया था आज 'साकेत' में और कहीं-कहीं 'यशोधरा' और 'द्वापर' में पर जहां पर भी उनका व्यक्तित्व भीतर से धक्का देने लगता है

उनके गीतों की धारा बह निकलती है। कवि का खुला हुआ हृदय सामने आ जाता है। कवि कुछ कहता है, संदेश देता है, आप बीती सुनाता है, चाहे किसी के द्वारा। समस्त प्रबंध पटुता मारी-मारी घूमती है। किसकी? उस महान कवि की जो इस युग का सबसे श्रेष्ठ प्रबंध रचयिता है।

गीतों की रस गागरी छलकाने के लिए भी विश्व की अनेक रूपात्मक अनुभूति अपेक्षित है। जीवन के नाना मार्मिक पक्षों की जानकारी ही नहीं, उनकी चोट भी कवि के पास होनी चाहिए। समस्त वास्तविकता, विवरणात्मकता, विभावन व्यापार, तथा साक्षात और परोक्ष अनुभूतियाँ भी अत्यंत आवश्यक हैं। पर भाव जगत में ये ऐसी घुल मिल जायें कि कोई ताड़ न सके, अर्ध सजग, असजग अवस्थाओं में यह समस्त मिश्रण व्यापार प्रत्येक ऊँचे कवि में हुआ करता है। उसका सजग रूप स्वयं उसे निहार नहीं पाता। नवनीत सामने रहता है, दूध और दही का आभास भी नहीं मिलता।

जब आत्मानुभूति का सच्चा उफान निज के साथ अभिन्न होकर गीत के मुक्तकों में बह निकलता है तो गीत काव्यकार प्रबंधरचयिताओं से श्रेष्ठ क्यों न ठहराया जाय, यह समझ में नहीं आता। कदाचित अनुभूति

शून्य आकाश में विना डोरे के उड़ने वाले गीतों को ही देखकर शुक्ल जी ने यह भ्रांति की है।

शुक्ल जी और गोस्वामी तुलसीदास

शुक्ल जी की सब से बड़ी ख्याति उनकी तुलसीदास विषयक आलोचना के कारण हुई। यह आलोचना अच्छी भी बन पड़ी है। शुक्ल जी की इस आलोचना का विषय गोस्वामी जी का रामचरित मानस ही प्रधानतया रहा है। फिर भी गोस्वामी जी की कला को जितनी सजगता के साथ पं० रामचंद्र शुक्ल ने निहारा है उतनी सजगता से किसी और आलोचक ने नहीं देखा। जीवनवृत्त संबंधी समस्त ज्ञातव्य बातों को तार्किक ढंग से सजाया गया है। आविर्भाव काल की विशेषताएँ, गोस्वामी जी का जन्म उनका कुल, उनके ग्रंथों की सूची, और बाह्य और आभ्यंतर साध्य पर उनका मूल्य निरूपण, जीवन संबंधी नाना घटनाओं का उल्लेख, यह सब बहुत अच्छी प्रकार ऊहा-पोह के साथ दिया गया है। मंगलाशा में गोस्वामी जी की जीवन और विश्व संबंधी दार्शनिकता की भी मीमांसा है। आलोचक स्वयं रागात्मक शैली को छोड़ नहीं सका है। वह काव्य लिखने लगा है। यह नितांत सत्य है कि राम-चंद्र जी को तुलसीदास ने समझा और समझाया और

तुलसीदास जी को शुक्ल जी ने खूब समझा और समझाया है। शुक्ल जी ने इतनी व्यापक आलोचना में गोस्वामी जी की मानवेतर विभूतियों के संबंध में विस्तार के साथ नहीं कहा यह आश्चर्य की बात है। इनका वर्णन यों ही चलताऊ ढंग का है जिससे उनका कोई विशद ज्ञान नहीं होता। तुलसीदास के अलंकार प्रयोग के विषय में शुक्ल जी कहते हैं कि वे बिंब ग्रहण कराने में बड़े पटु हैं। उनकी उक्तियाँ अतिशयोक्ति के कोरे लदाव से दबी नहीं रहतीं। अन्य रीतिकाल के कवियों के उदाहरण देकर उनकी हँसी उड़ाई है। पर गोस्वामी जी की ऐसी ऐसी उक्तियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया :

"पलँग पीठ तजि गोद हिँडोरा।
सिय न दीन पग अवनि कठोरा॥"

क्या एक अत्यंत रुग्ण राजयक्ष्मा से पीली पड़ी हुई चलने में अशक्त रमणी का चित्र सामने नहीं आ जाता? बिंब ग्रहण में कौन-सा सौकर्य है। यह अतिशयोक्ति तो सादृश्य का पल्ला छुड़ा कर दूर दूर भागने वाली है।

शुक्ल जी की गोस्वामी जी संबंधी इस विशद आलोचना में कई विवरणों में एकंगेपन के कारण विचारांतर के लिए पूरा अवकाश। आलोचना का समस्त बोझ इस विचार पर टिका हुआ है कि गोस्वामी जी ने लोकधर्म

की ही प्रमुख रूप में प्रतिष्ठा की है। इस विचार को स्थापित करने के लिए शुक्ल जी ने आलोचना खंड के आरंभ से समस्त प्रतिभा का व्यय किया है। युक्तियों में इतना बल है और शुक्ल जी की शैली में इतना आकर्षण है कि बहाव के वेग में रुक कर उनके कथित सिद्धांत का मूल्य निरूपण करना बहुत ही जागरूक समीक्षक का काम है। वास्तव में जब से पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपनी आलोचना द्वारा गोस्वामी जी की कविता में लोकधर्म का दिग्दर्शन कराया तब से परवर्ती सारे आलोचकों का ध्यान उस ओर से हटता ही नहीं। लोकधर्म के गहरे रंग की ऐनक लगाने से उनका व्यक्तिगत साधुधर्म धूमिल दिखाई देने लगा है। परंतु यह न भूलना चाहिए कि उन्होंने समाज सुधार के लिए, लोकधर्म के नाम पर, जो कुछ भी किया वह गौण था। प्रधानता तो वैयक्तिक उन्नति की ही थी, नहीं तो मीरा को यह परामर्श न देते—

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।"

साधु धर्म में गुरु का स्थान सर्वोच्च है। स्थान स्थान पर उन्होंने गुरु की प्रशंसा की है। यह भी नहीं कि पं० रामचंद्रशुक्ल के कथनानुसार। उन्होंने अपने सब ग्रंथों का गणेश की ही वंदना से आरंभ किया हो। गुरु की वंदना

से भी उनके ग्रंथों का आरंभ हुआ है। वे ब्राह्मण थे। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। उन्होंने समाजवाद का पक्षपात किया है। प्राचीन रूढ़ियों की रक्षा के लिए प्रयत्न किया है। तीर्थ, व्रत, नियम, उपवास, माला, तिलक, गंगास्नान इत्यादि की ओर उन्होंने प्रवृत्ति पैदा की है। परंतु साधु धर्म का संमान उनके हृदय में बहुत बड़ा है। वैयक्तिक पवित्रता की समता में सारी रूढ़ियाँ उड़ जाती हैं। रामचंद्र शबरी के जूठे बेर खा लेते हैं और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ अछूत निषाद को गले लगाते हैं। इन उदाहरणों से लोकधर्म की पुष्टि में यह कह देना कि उनका किसी जाति से विरोध न था उतना सत्य नहीं जितना सत्य यह है कि वैयक्तिक पवित्रता की धारा में उनका लोकधर्म मारा-मारा फिरता है। गोस्वामी जी वहीं तक लोकधर्म के साथ थे जहाँ तक साधु धर्म से उसका विरोध न था। इधर उधर के अवतरणों से जहाँ कहीं भी गोस्वामी जी साधु धर्म से उतरे हुए प्रतीत होते हैं उसका कारण यह नहीं है कि लोकधर्म की वेदी पर साधु धर्म की बलि दी गई है, वरन् उन स्थलों पर गोस्वामी जी ने रूढ़ियों की रक्षा करके मनमानी उच्छृंखलता को दबाया है। विभीषण भ्रातृद्रोह और देशद्रोह करके लोकधर्म का अच्छा उदाहरण उपस्थित नहीं करता। शत्रु से मिल कर सुग्रीव का भाई को

मरवाना और उसकी स्त्री को व्याह लेना लोकधर्म का अच्छा आदर्श नहीं। मंदोदरी पति को शत्रु रामचंद्र के समक्ष 'खल खद्योत दिवाकर जैसा' कहकर भारतीय ललनाओं के समक्ष लोकधर्म का कोई ऊँचा आदर्श उपस्थित नहीं करती, इन पात्रों का साधु पात्रों में परिगणन केवल साधुधर्म के बल पर किया गया है। लोकधर्म के बल पर नहीं।

यह ठीक है कि गोस्वामी जी को सृष्टि के दुष्ट स्वरूपों का वैसा ही सूक्ष्म परिज्ञान था जैसा कि साधु चरित्रों का और दुष्टों को सुधारने के लौकिक प्रयासों को कहीं कहीं पर साधु प्रयोगों के आदर्शवाद के झमेले से वे अच्छा समझते हैं परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने उन लौकिक नियमों को आदर्श माना है। लोकधर्म के इस सीमा तक वे अनुयायी न थे। यह ठीक है कि सृष्टि के आदि से ही सब लोक एक से भले नहीं हुए। यह विकासवाद के भी प्रतिकूल है। सारा राष्ट्र एक गाल पर थप्पड़ खाकर दूसरा गाल नहीं फेर सकता, यह भी किसी हद तक ठीक है। परंतु इस कारण साधु सिद्धांतों के विकास के लिये समाज को न तैयार करना सर्वथा ठीक नहीं। साधुप्रवर गोस्वामी जी ऐसा घोर अन्याय नहीं कर सकते थे। आज महात्मा गांधी यह समझ कर भी कि उनका अहिं-

सात्मक आंदोलन लोकधर्म के स्वरूप में गृहीत नहीं हो रहा है, उसमें हेर फेर करने को तैयार नहीं है। वरन् समस्त राष्ट्र को अपने साथ ले चलने का प्रयास करते हैं। गोस्वामी जी यदि महात्मा थे तो वे दूसरी बात कर ही कैसे सकते थे ?

महात्मा तुलसीदास को इस भावना से खाली समझना उन्हें नीचा गिराने का प्रयास करना है। संसार की बुराई और भलाई दोनों का उन्हें ज्ञान था। दोनों को ही वे उस अखंड सत्ता की दो विभिन्न परिस्थितियाँ समझते हैं। इसी लिए उन्होंने उसी भक्ति से खलों और दुष्टों की वंदना की है जिस भक्ति से साधुओं और देवताओं की।

"सगुन छीर अवगुन जल ताता।
मिलइ रचइ परपंच विधाता॥"

और एक स्थल पर कहा है—

'जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।'
संत हंसगुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥"

इस विश्व में उन्नतिशील विकासप्रिय सज्जनों के लिए हंस संज्ञा है।

एक बड़े कवि के लिए अभिव्यक्ति की दोनों विभूतियों का ज्ञान अपेक्षित है। अन्यथा काव्य में वह वेग नहीं आ सकता। बुरे पात्रों के सहारे अच्छे पात्रों का उत्कर्ष बढ़ता है। बूट जितने ही काले होंगे गोरा पैर उतना ही चमकेगा।

इस पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति से गोस्वामी जी के लोकधर्म से कोई संबंध नहीं। गोस्वामी जी ने साकार भगवान की अभिव्यक्ति केवल इसलिए की है कि लोग उनके भगवान को जानें और उनके प्रति भक्ति करें। रामचरित चित्रण केवल इसी प्रकार से सुंदर हो सकता है जिस प्रकार से गोस्वामी जी ने किया है। यदि मानस में लोकधर्म के दर्शन होते हैं तो उसका श्रेय उनके उपास्य देव को है, वाल्मीकि जी को है, प्रसन्नराघवकार को है, और अनेक पूर्ववर्ती रामचरित लेखकों को है। उनकी यदि कोई निजी विशेषता है तो वह उनका साधु धर्म है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पं० रामचंद्र शुक्ल ने गोस्वामी जी की आलोचना में उन्हें लोकधर्म प्रचारक की ऐसी मोटी और आलोकमयी वर्दी पहना दी है कि दूसरे आलोचकों के नेत्र सबसे पहिले उसी से चकाचौंध हो जाते हैं। जितने ग्रंथ बाद में निकले सभी में इसी सिद्धांत को अक्षुण्ण मान कर इसी के आस-पास फेरी की गई है। यह मनोभाव सत्समालोचना के प्रतिकूल है। विज्ञ लेखक श्रीयुत शुक्ल जी की आलोचना को यदि सावधानी से कई बार पढ़ा जाय तो अनेक ऐसे स्थान मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने लोकधर्म को आवश्यकता से अधिक ढूँढ़ा है। उसकी अतिरंजना की है। अपने ज्ञान की

प्रतिच्छाया को गोस्वामी जी के काव्य कानन में स्थान दिया है,

रामायण में अवश्य लिखा है कि—

"पूजिय विप्र ज्ञान गुन हीना।
शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना॥"

इन पंक्तियों को लोकधर्म की व्याख्या के उदाहरण के रूप में पेश करके गोस्वामी जी की अनुदार रूढ़ि आसक्ति को छिपाने के प्रयास से यह कहीं अच्छा है कि यह स्वीकार कर लिया जाय कि यह उक्ति उनके अंतस्तल को खोलकर सीधी सामने यह बात रख देती है कि ब्राह्मणों के जन्मजात बड़प्पन और शूद्रों की जन्मजात हेयता का उन्हें विश्वास था। वह इस विषमता को ईश्वर की आवश्यक देन समझते थे। लोकधर्म की प्रतिष्ठा में तो बलवती सामाजिक व्यवस्था काम किया करती है। पर समाज के दो वर्गों के प्रति व्यापार की यह विषमता किसी भी सामाजिक व्यवस्था का उतना अनुगमन नहीं है जितना दैवी विधि निषेध का एक भक्त का समझा और परखा हुआ आध्यात्मिक आदेश है। वह भगवान की संसार के लिए दी हुई आज्ञा को मानना सब कुछ समझता है। अतएव इन पंक्तियों में भक्त गोस्वामी जी के निश्छल उद्गार हैं जिसमें ईश्वरीयता का स्वीकार है। लोकधर्म का विचार कदापि प्रधान नहीं है।

अभिव्यंजना कौशल की ओर ध्यान दीजिये तो अकेले एक बात गोस्वामी जी को बहुत ऊँचा उठा देती है। गोस्वामी जी की किसी वृत्ति में रसात्मकता का तूफ़ान नहीं है। विश्व के सभी बड़े से बड़े काव्यों में यही बात है। गोस्वामी जी की गहरी से गहरी भावना में विस्फोट का झकझोर नहीं है। परंतु यह बात नहीं है कि वे रुलाया हँसा न सकें। ऊँची कला का चिन्ह ऊँची गतिविधि है। ऊँचे विषय का चिन्ह है व्यापक सहृदयता।

कवि के लिए हकलाना उतना ही बड़ा दोष है जितना वक्ता के लिए। काव्य निर्माण में काव्यगत परिस्थितियों को समय-समय पर छोड़ देना और उनकी अभिव्यक्ति न करना जान बूझ कर काव्य को दुरूह बनाना है। एक सुंदर रंगीन तितली का सौंदर्य जब तक हम गुलाब के लाल फूल के आसन पर अनुभव करते हैं तब तक वह उछल कर घास की पतली सीक पर फूलने लगती है। यहां भी उसके स्वरूप का पूर्ण निरीक्षण नहीं हो पाता कि वायु में गोते खाती हुई नीम की ऊँची चोटी पर जा बैठती है। यह वृत्ति काव्य में अच्छी नहीं। वर्तमान युग की कविता का यह बड़ा भारी दोष है। गोस्वामी तुलसीदास जी इस चंचलता से कोसों दूर हैं। सौंदर्य के गत्यात्मक निर्माण के लिए भी बिना लगाम की कल्पना व्यर्थ है।

गोस्वामी जी का सब से बड़ा गुण उनके जीवन की निष्कपटता और उक्ति की निश्छलता है। अपने विषय में वे लिखते हैं:—

"जे जनमें कलिकाल कराला।
करतब वायस वेष मराला।
चलहिं कुपंथ वेद मग छाड़े।
कपट कलेवर कलिमल भाड़े॥
वंचक भगत कहाइ राम के।
किंकर कंचन कोह काम के।
तिन्ह मँह प्रथम रेख जग मोरी
धिग धर्मध्वज धंधक धोरी॥"

यह वंचक उक्ति नहीं है और न इसमें अतिरंजना ही है। इसमें उनका निजी स्वीकार है। पाप के स्वीकार का यह भाव विरलों में दिखाई देता है। गोस्वामी जी की इन पंक्तियों के समक्ष। मेरे निकट। उनकी लोकधर्म और साधु-धर्म की सारी उक्तियाँ न्योछावर हैं। इससे पतितों को बड़ा सहारा मिलता है।

गोस्वामी जी की इस विशेषता के समक्ष उनकी रूढ़िगत उक्तियाँ, परंपरा के विधि-निषेध, अनुदार मत-मतांतर, संस्कृत उतरन का बेधड़क प्रयोग, उपमाओं और रूपकों की अमौलिकता, देवत्वप्रतिष्ठा का स्थान-स्थान पर प्रयास, भावों की आवृत्ति इत्यादि इत्यादि सब अवगुण कुछ नहीं रह जाते।

पंडित सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए० के लिखे हुए ग्रंथ—

(१) भ्रमित पथिक—एक अन्योक्तिमय गद्य काव्य।

(२) गौतमबुद्ध—जीवन वृत्त।

(३) फूटा शीशा—एक ही शीर्षक पर लिखी हुई दस कहानियों का संग्रह।

(४) एकादशी—ग्यारह कहानियों का संग्रह।

(५) गद्य प्रकाश—हिंदी गद्य शैलीकारों की उत्तम कृतियों का संग्रह और शैलीकारों की समीक्षा।

(६) हिंदी गद्य गाथा—हिंदी गद्य साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास और शैलीकारों की समीक्षा।

(७) तुलसी के चार दल—(दो भागों में) गोस्वामी तुलसीदास जी की चार छोटी-छोटी कृतियों की गवेषणापूर्ण समीक्षा और गोस्वामी जी का परिचय (हिंदुस्तानी एकेडमी यू० पी० द्वारा पुरस्कृत)

(८) मुद्रिका—एक एकांकी नाटक।

(९) दो एकांकी नाटक—'बालिबध' और 'वे दोनों' नामक दो एकांकी नाटकों का संग्रह।

(१०) विचार-विमर्ष—विचारात्मक लेखों का संग्रह।

(११) हृदय-ध्वनि—साहित्यिक लेखों का संग्रह।

(१२) त्रिमूर्ति—तथागत गौतम बुद्ध, महात्मा ईसा और रसूल मुहम्मद की जीवनियाँ।